वेदोदय
ऋक्
यजुः
वेद
साम
अथर्व

विषय-सूची

श्री० पं० मदनमोहन मालवीय जी

आपकी ८०वीं वर्ष गांठ बसंत पंचमी को बड़ी धूमधाम से
काशी नगर में मनायी गई।

कला प्रेस, प्रयाग।

ओ३म्
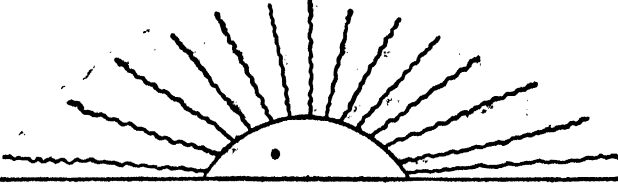
पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ४	फागुन संवत् १९८८, दयानन्दाब्द १०७, मार्च १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३२	संख्या ६ पूर्ण सं २४

हमारा सर्वस्व

[पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालङ्कार, एम० ए०]

परमेश का प्रसारा, संसार का सहारा।
वर वेद धर्म प्यारा, सर्वस्व है हमारा ॥ टेक ॥

करते सदा रहे थे, योगीश मान जिसका।
तरते सदा रहे थे, ले गेय ज्ञान जिसका ॥
सुरलोक का सितारा।
सर्वस्व है हमारा ॥ १ ॥

मुनि विश्व से पृथक हो, वन में निवास करते।
स्वाध्याय से अथक हो, परमार्थ आश करते ॥
प्रभु प्रेम का पिटारा।
सर्वस्व है हमारा ॥ २ ॥

बहु बाल ब्रह्मचारी, बन ज्ञान के भिखारी।
श्रुति देवता पुजारा, थे पीत वस्त्र-धारी॥
व्रत वेद हेतु धारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ३॥

वर्चस्वि ब्राह्मणों को, सुर तेज मान दाता।
वर वीर क्षत्रियों को, बल ओज का विधाता॥
विट् शूद्र का सहारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ४॥

परमेश! जब मरें हम, तो वेद वेद रटते।
बलिदान निज करें हम, पीछे कभी न हटते॥
हो वेद अमृतधारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ५॥

प्राचीन आर्य्यजन का, सर्वस्व वेद ही था।
जीवन तथा मरण का, उद्देश्य भी वही था॥
श्रुति "सूर्य" का उजारा।
सर्वस्व है हमारा॥ ६॥

वेदार्थ और स्वामी दयानन्द

[भाग ४, अंक २१ से आगे]

[श्री बा० श्यामसुन्दर लाल जी एडवोकेट, मैनपुरी]

पिछले अंक में, मैंने निवेदन किया था कि "कृष्ण" एक दूसरा शब्द है जो अवैदिक और अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में योगिराज श्री कृष्णचन्द्र महाराज के लिये प्रायः रूढ़ि होगया है और चूंकि उपरोक्त महाराज ब्रह्मबल और क्षात्रबल दोनों में अद्वितीय थे, योगियों में योगीश्वर और पुरुषों में पुरुषोत्तम थे, उनके अद्वितीय गुणों का हिन्दू समाज पर इतना अधिक प्रभाव खचित् हो गया कि वह कालान्तर में साक्षात् परमात्मा के अवतार माने जाने लगे और उपरोक्त शब्द उनके लिये पीछे से रूढ़ि बन गया। इस शब्द का सम्बन्ध उपरोक्त कृष्ण महाराज से न जाने कितनी शताब्दियों अथवा सहस्राब्दियों से इतना घनिष्ठ हिन्दू जाति में जुड़ गया है और प्रत्येक हिन्दू (आर्य्य) मा का दूध पीने के समय से आजीवन उक्त शब्द को उपरोक्त महापुरुष के साथ साथ जुड़ा हुआ सुनने और पढ़ने का इतना अभ्यासी हो जाता है कि उसके लिये यह मानना असम्भव सा हो जाता है कि यह शब्द संस्कृत साहित्य में सामान्यतया किसी अन्य अर्थ में भी आ सकता है। इस सब का फलस्वरूप प्रतिफल यह हुआ है कि संस्कृत साहित्य में कहीं पर 'कृष्ण' शब्द के आने पर तत्काल स्वभावतः उपरोक्त कृष्ण महाराज का भाव हमारे नेत्रों के सन्मुख नृत्य करने लगता है।

इस लेख में हमको यही दिखलाना है कि वेदों का 'कृष्ण' एक स्थान पर नहीं किन्तु सम्पूर्ण अनेक स्थलों पर स्पष्टतया कृष्ण (काला) वर्ण अथवा आकर्षण गुण का द्योतक होकर, कहीं पर मेघ का विशेषण है, कहीं पर भौतिक अग्नि और विद्युत का विशेषण है, कहीं पर प्राकृतिक आकर्षण (Gravitation) का ग्राहक है इत्यादि परन्तु ऐतिहासिक उपरोक्त कृष्ण महाराज के अर्थ में एक स्थान पर भी प्रयुक्त नहीं हुआ है।

मैंने इस बात के कहने का कि 'कृष्ण' शब्द वेदों में एक स्थान पर भी ऐतिहासिक कृष्ण का ग्रहणकर्ता नहीं है क्यों साहस किया है इसका एक हेतु तो यह है कि सब के सब स्थल स्फुटतया उपरोक्त दो अर्थों में से किसी न किसी

एक अर्थ को अपने साथ लिये हुए दृष्टि पड़ रहे हैं तथा द्वितीय हेतु यह है कि श्री सायणाचार्य्य महाराज जो ऐतिहासिक अर्थ की गंध पाते हुए भी अपने भाष्य में कभी ऐतिहासिक अर्थ के देने से नहीं चूकते इस 'कृष्ण' शब्द का एक स्थान पर भी ऐतिहासिक अर्थ देने का साहस नहीं करते।

'कृष्ण' शब्द किसी न किसी विभक्ति में वा अन्य शब्द के साथ मिल कर ऋग्वेद में ६४ स्थानों पर, यजुर्वेद में २५, सामवेद ९ तथा अथर्ववेद में ३२ स्थानों पर विद्यमान है; परन्तु एक स्थान पर भी ऐतिहासिक कृष्ण का पता नहीं है। प्रत्येक मन्त्र को उद्धृत कर और उसका अर्थ देकर प्रकट करना कि वास्तविकता इसी प्रकार है विज्ञपाठकों का समय खोना उचित प्रतीत नहीं होता, अतएव मैं केवल एक ऋग्वेद मन्त्र को इस कारण से प्रस्तुत करना उचित समझता हूं कि उक्त मन्त्रस्थ 'कृष्ण' शब्द को स्वर्गीय श्री पं० ज्वालाप्रसाद मुरादाबादी ने ऐतिहासिक 'कृष्ण' के अर्थ में व्याख्यात करने का प्रयास किया है और उस पर श्री सायणाचार्य्य और महर्षि दयानन्द का भाष्य भी उपस्थित है जिससे ज्ञात होगा कि उक्त पण्डित जी का अर्थ उस स्थल पर ठीक नहीं बैठता।

मंत्र निम्न प्रकार है :—

"कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्णु अर्चिर्वपुषामिदेकं यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः।"

(ऋ० ४-७-९)

उक्त मन्त्र का सायण भाष्य निम्न है :—

"हे अग्ने ! रुशतः रोचमानस्य ते तव अत्रैम एमन् शब्देन गमन मार्ग उच्यते, एम वर्त्म कृष्णवर्णं भवति। भाः तव सम्बन्धिनो दीप्तिः, पुरः पुरस्ताद् भवति। चरिष्णु संचरण शीलम् अर्चिस्त्वदीयं तेजः वपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेजस्विनामित्यर्थः। एकमित् मुख्यमेव भवति यत् यं त्वाम् अप्रवीता अनुपगता यजमानाः गर्भत्व जननहेतुमरणिं दधतेह धारयन्ति खलु। सत्वं सद्यश्चित्सद्यएव जात उत्पन्नः सन् दूतो भवसीदु यजमानस्य दूतोभवस्येव।"

अर्थात् –हे अग्ने तुझ प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्णवर्ण (काला) है। तेरा प्रकाश आगे रहता है, चलने वाला तेरा तेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है। जिस तेरे समीप न गये हुए यजमान लोग ज्यों ही तेरे गर्भरूप अरणि को धरते हैं त्यों ही तू उत्पन्न होता ही दूत अर्थात् यजमान का दूत बन जाता है।

तात्पर्य्य यह है (स्वर्गीय श्री० पं० तुलसीराम स्वामी के भास्कर प्रकाश से उद्धृत) कि अग्नि का मार्ग काला है। जहां होकर आग निकलती है वहां काला

पड़ जाता है। आग के साथ साथ आगे आगे उसका प्रकाश चलता है, प्रकाश का स्वभाव ही चलने का है। अग्नि का प्रकाश तत्वरूप से प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में मुख्य करके है। अग्नि को यज्ञकर्त्ता लोग जब दो अरणियों के गर्भ से उत्पन्न करते हैं तो वह तत्काल उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् यजमान के दिये हुए हविभाग को वायु आदि देवों को पहुंचाने लगता है। यही उसका दूतत्व है जो वेदों में गाया गया है।

उक्त अर्थ में इस बात के संकेत करने की आवश्यकता है कि श्री सायणाचार्य्य ने मन्त्रस्थ 'अप्रवीता' शब्द को बहुवचनान्त लेकर (अनुपगता यजमानाः) समीप न गये हुए यजमानों का किया है और 'दधते' शब्द को जो एक वचनान्त क्रिया है (वचन व्यत्यय से) बहुवचनान्त मान लिया है और उसका (धारयन्ति) धारण करते हैं ऐसा अर्थ किया है क्योंकि वेदों में अनेक स्थलों पर व्याकरण के अनुसार ऐसा कर सकने का विधान है। परन्तु अन्यथा सब प्रकार से श्री सायण का दिया अर्थ आधिभौतिक अर्थ में सुसंगत हो जाता है। किसी प्रकार की कोई ईंचा खींची उक्त अर्थों में दृष्टि नहीं पड़ती। यह ध्यान रखने की बात है कि सर्वोत्तम अर्थ वही होता है जिसमें यथा समय सम्भव 'व्यत्यय' का आश्रय कम लिया गया हो क्योंकि 'व्यत्यय' का अर्थ ही यह है कि साधारण नियम के प्रतिकूल कोई अनियमता पर नियम अङ्गीकृत करना पड़े।

अब इसके आगे मैं श्री० पं० ज्वालाप्रसाद जी का दिया हुआ अर्थ जो उन्होंने अपने रचित पुस्तक दयानन्द तिमिर भास्कर में दिया है उद्धृत करता हूं जो निम्न प्रकार है :—

"कृष्णं त एम इति हे भूमन्! ते तव रुद्ररूपेण पुरस्तिस्रो रुशतो नाशयतः यद्वा पुरः स्थूल सूक्ष्मकारण देहान् प्रसतस्तुर्य्यस्वरूपस्य यत्कृष्णंभाः सत्यानन्द चिन्मात्रं रूपं तत् एम प्राप्नुयाम यस्य एकमिति एकमेव अर्चिर्ज्वालावदंश मात्रं समष्टि जीवं वपुषां देहानां अनेकेषु देहेषु चरिष्णु भोक्तृरूपेण वर्त्तते यत्कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्रकर्षेण वीतंगमनं संचारो यस्याः सा अप्रवीता निरुद्धगतिर्निगडे गुप्ता देवकीत्यर्थः कृष्णाय देवकी पुत्रायेति छान्दोग्ये देवव्याएव कृष्ण मातृत्व दर्शनात् सागर्भं स्वगर्भं दधते धारयति दध धारणे इत्यस्य रूपमह प्रसिद्धं सत्वंजातः गर्भतो वहिराविर्भूतः सन् संघइदु सघएव उ निश्चितं दूतः दुनोति इति दूतः मातुः खेदकरोऽसि वियोग दुःखप्रदो भवसीत्यर्थः एतेन देवकी पतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धृतमिति सूचितिम्।"

अर्थात्—हे भूमन्! आपका जो सच्चिदानन्द चिन्मात्र रूप है और रुद्र

रूप से तीन पुर को नाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्म कारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्णभा रूप को हम प्राप्त होवें जिन आपके स्वरूप की एक ही अर्चि अर्थात् ज्वालावत् अंशमात्र समष्टि जीव अनेक देहों में चरिष्णु अर्थात् भोक्तृरूप से वर्त्तमान है और जो कृष्णभा को अप्रवीता अर्थात् निगड़ ग्रस्त देवकी गर्भरूप से धारण करती भई। छान्दोग्य में भी कृष्ण की माता देवकी सुनी है हे भूमन्! आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर माता के पास से पृथक् हुए (और उसके वियोग जन्म दुखसे कारण होकर दूत हुए) इससे श्री कृष्णचन्द्र का देवकी के गर्भ में जन्म और महेश्वरावतार तथा जीव को पूर्व निरूपित चिन्दंशत्व वो धन किया।

उपरोक्त अर्थों को ऊपरी दृष्टि से देखने से ऐसा मालूम होता है कि भाष्य-कर्त्ता ने 'व्यत्यय' का आश्रय न लेते हुए भी 'कृष्ण' शब्द के अर्थ में एक प्रकार का गौरव उत्पन्न कर दिया है। विज्ञ पाठक यह भी बलपूर्वक कह सकते हैं कि माना यह बात ठीक है कि उपरोक्त मन्त्र का ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण उक्त सातवें सूक्त का देवता अग्नि है और इसलिये उपरोक्त मन्त्र में अग्नि का ही विषय माना जा सकता है और इसलिये श्री सायणा-चार्य्य का अर्थ अग्नि को देवता मानकर जो उपरोक्त भांति किया गया है वह एक अंश में ठीक हो परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि 'अग्नि' देवता के होने से केवल भौतिक अग्नि का ग्रहण किया जा सके अपितु सम्भव है कि अग्नि देवता से तात्पर्य विद्युत, विद्वान्, सभेश, सेनापति, आत्मा, परमात्मा आदि किसी एक का हो क्योंकि अग्नि शब्द इन सब अर्थों में कहीं न कहीं वेदों में विद्यमान पाया जाता है और महर्षि दयानन्द ने भी अग्नि शब्द के अर्थ आधिभौतिक, आधिदैविक आध्यात्मिक प्रभेद से उक्त विविध पदार्थों के लिये ग्रहण किये हैं। मेरी सम्मति में यह तर्क सर्वथा सुसंगत है और श्री सायणाचार्य्य के विरुद्ध अन्य प्रकार का अर्थ करने में उक्त पण्डित जी सब प्रकार से अधिकारी थे। परन्तु मैंने श्री सायण का अर्थ इस अभिप्राय से नहीं दिया है और न श्री सायण ने वेदस्थ 'कृष्ण' शब्द को कहीं भी ऐति-हासिक 'कृष्ण' के अर्थ में लिया है इस हेतु से निवेदन की है। किन्तु पं० ज्वालाप्रसाद जी वा अन्य को उसके विरुद्ध अर्थ करने का अधिकार नहीं है किन्तु उपरोक्त निवेदन का तात्पर्य यह है कि पौराणिक सब के सब पंडितों पर श्री सायणाचार्य्य की धाक इतनी अधिक है और वह उनमें इतने मान्य समझे जाते हैं कि उनके विपरीत भाष्य को यह पण्डित महोदय किसी प्रकार मानने को तय्यार नहीं होते और यदि ऐसे सर्वमान्य

आचार्य्य को ऐसे समय में 'कृष्ण' शब्द के अर्थ ऐतिहासिक कृष्ण से नहीं सूझे जब कि, भगवान् कृष्ण का अवतार हिन्दू जाति में प्रचुर रूप में प्रचलित था और जब वेद के ऐतिहासिक अर्थों को भरमार थी तो विज्ञ पुरुष के लिये यह निष्कर्ष सुगमता से निकल आता है कि इस मन्त्र अथवा 'कृष्ण' शब्द को लिये हुए अन्य मन्त्रों में ऐतिहासिक कृष्ण का प्रवेश नहीं है।

जो हो कोई पुरुष न्यायतः किसी अन्य को उस अधिकार से वञ्चित नहीं कर सकता जो उसको उक्त प्रकार प्राप्त है और इसलिये इस बात को मानकर की श्री पं० ज्वालाप्रसाद जी को श्री सायणाचार्य्य के अर्थों से विपरीत अर्थ दे सकने में सब प्रकार से अधिकार था उनके अर्थों की इस अभिप्राय से मीमांसा करनी आवश्यक है कि उन्होंने जो कुछ अर्थ दिया है वह सुसंगत है वा नहीं और शब्दों के अर्थों में कोई बलात् खींचा तानीं तो नहीं है।

पण्डित ज्वालाप्रसाद जी के उपरोक्त अर्थों से ज्ञात होगा कि उन्होंने इस मन्त्र का देवता भूमा ग्रहण किया है और भूमा परमात्मा को कहते हैं और अग्नि शब्द परमात्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है अतएव अग्नि को भूमा नाम से सम्बोधन करने में उक्त पण्डित जी अर्थ करने के मर्यादा के भीतर ही हैं।

पुनः "कृष्णंभा" शब्द का अर्थ उन्होंने सत्यानन्द चिन्मात्र रूप का अंगीकृत किया है अतः यह अर्थ भी शब्दार्थ से विरुद्ध प्रतीत नहीं होता क्योंकि आकर्षण करने वाला तेज सरलता से उक्त अर्थ का द्योतक हो सकता है। इसके आगे 'राम' शब्द का अर्थ उक्त पण्डित जी ने (प्राप्नुयाम) "हम प्राप्त होवें" का किया है और यह अर्थ भी व्याकरण के अनुकूल ही है क्योंकि 'राम' शब्द मार्ग का भी वाचक है और बहुवचनान्त उत्तम पुरुष के साथ क्रिया का भी रूप है। पुनः आगे चलकर श्री० पण्डित जी 'दूत' शब्द का अर्थ "दुनोति इति दूतः" ऐसा करते हैं। सो यह अर्थ भी व्याकरण और साहित्य के अविरुद्ध है क्योंकि दूत शब्द का जहां अन्य अर्थ होता है वहां यह अर्थ भी (टुदु उपतापे) धातु से निष्पन्न होता है परन्तु आगे चलकर जब पण्डित जी "अप्रवीता" शब्द का अर्थ 'देवकी' का करते हैं तो वह एक ऐसी चेष्टा करते हैं जिसके लिये उनको कोई आधार न किसी भाष्य का प्राप्त है और न उस अर्थ शैली (यौगिकार्थ की शैली) का ही सहाय उनको मिलता है जिसका आश्रय लेकर निरुक्ताचार्य्य और स्वामी दयानन्द के मन्तव्यानुसार उन्होंने अन्य शब्दों के अर्थ किये हैं। 'अप्रवीता' शब्द का अर्थ निरुद्धगति अथवा एकान्त सेवी स्त्री का

होना समझ में आ सकता है क्योंकि गर्भाधान के समय ऐसा करना स्त्री के लिये प्राकृतिक धर्म है परन्तु सामान्य स्त्री जाति को छोड़ यह 'अप्रवीता' शब्द 'देवकी' में रूढ़ि है अथवा देवकी का अर्थ दे सकता है यह बात किसी प्रकार बुद्धि संगत नहीं है। छान्दोग्य उपनिषत् का "कृष्णाय देवकी पुत्राय" यह वाक्यखण्ड जो हेतुरूप से उक्त पण्डित जी ने उद्धृत किया है उससे 'अप्रवीता' शब्द को देवकी अर्थ में नियुक्त करने के लिये कोई सहायता नहीं मिलती। वहां तो केवल इतना प्रसंग आया है कि एक अंगिरा वंशोत्पन्न घोर नामा ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को उपदेश दिया कि हे कृष्ण अन्तकाल में उपासक तीन पदों का जप करे इत्यादि और इस उपदेश को सुन कर कृष्ण तृप्त हो गये यथा :—

"तद्धैतत् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः।"

(छा० ३-१७-६)

उक्त उदाहरण से यह तो विदित होता है कि देवकी पुत्र कृष्ण घोर ऋषि के शिष्य थे परन्तु इस स्थल पर अप्रवीता शब्द को देवकी अर्थ में नियुक्त करने का कोई गंध वा संकेत नहीं है। केवल इतनी बात से कि हिन्दू मात्र में कृष्ण देवकी पुत्र प्रख्यात है और उनका अथवा किन्हीं अन्य कृष्णनामी महानुभाव का देवकी पुत्र होना छान्दोग्य उपनिषत् से उक्त प्रकार पाया जाता है यह बात सिद्ध नहीं होती कि मन्त्र में 'अप्रवीता' शब्द को देवकी अर्थ में लेने का कोई आधार है।

द्वितीय 'दधते' वार्त्तमानिक क्रिया का सम्बन्ध भी ऐतिहासिक "देवकी" से नहीं ठीक बैठता क्योंकि ऐतिहासिक देवकी के लिये भूत कालिक क्रिया की आवश्यकता थी न कि वर्त्तमानिक क्रिया की। उक्त भाष्यकर्ता ने नागरी भाष्य देने में भूतकालिक क्रिया का प्रयोग भी किया है क्योंकि नागरी अर्थ में लिखा है "गर्भधारण करती भई" परन्तु संस्कृत भाष्य में काल व्यत्यय न मान कर वर्त्तमान ही अर्थ किया है। यदि कहा जावे कि ऐतिहासिक वर्त्तमानिक क्रिया भूतकाल के अर्थ में प्रयुक्त होती ही नहीं देखी जाती किन्तु साहित्य में लावण्य उत्पन्न करने वाली समझी जाती है तो यह बात भी ठीक नहीं बैठती क्योंकि अन्य आगे पीछे के मन्त्रों में कोई भी ऐतिहासिक वर्णन नहीं है और न उक्त पण्डित जी को यह साहस हुआ कि आगे पीछे किसी मन्त्र में भी उपरोक्त ऐतिहासिक भाव को वर्णित बतला सकते। अतएव ऐतिहासिक वर्त्तमान क्रिया का प्रयोग इस स्थल पर नहीं समझा जा सकता। हां काल

'व्यत्यय' का आश्रय लिया जा सकता है परन्तु इस व्यत्यय के मानने से जो किसी व्यत्यय के आश्रय न लेने के रूप में मैंने ऊपर पण्डित जी के अर्थों की प्रशंसा की थी वह जाती रहती है और जब पण्डित जी ने स्वयं ऐसा नहीं कहा तो उक्त तर्क के प्रस्तुत करने की भी आवश्यकता नहीं है।

अतएव जब 'अप्रतीता' शब्द को देवकी अर्थ में नियुक्त करने का किञ्चिदपि आधार नहीं मिलता तो यह बात भी सुगमता से समझी जा सकती है कि 'दूत' शब्द का अर्थ इस स्थल पर खेद-कारक का किसी प्रकार सुसंगत नहीं हो सकता। 'खेदकारक' का अर्थ उसी समय तक कुछ सम्बन्धित होता प्रतीत होता था जब कि 'देवकी' को वहां स्थान मिल सकता। तथा यह बात सुप्रसिद्ध है कि वेदों में 'दूत' शब्द अधिकतर 'ले जाने वाले' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और अग्नि को देवताओं का दूत इसी कारण से अनेक स्थलों पर कहा गया है कि वह हव्यवाहन है और देवताओं के लिये हव्य का वाहन किया करता है। व्याकरण और साहित्य प्रयोग की दृष्टि से खेद कारक के अर्थ अवश्य हो सकते हैं परन्तु यहां पर वह अर्थ सुसंगत नहीं है किन्तु दूसरा अर्थ उसका यहां पर अपेक्षित है जो उसकी पूरी व्युत्पत्ति में निम्न प्रकार सम्मिलित है (देखो उणादि कोष स्वामी दयानन्द कृत)

"दवति गच्छति दुनोति उपतपति वा स दूतः। बहुकर्त्तव्य साधको राज-भृत्यो वा।"

अर्थात्—जो कष्ट भोगे वा अन्य को कष्ट देवे वह भी दूत है और जो गमन करे और विशेष कार्य्यों का साधन करे वह भी दूत है। यह दूसरा अर्थ वास्तव में 'दुगतौ' धातु से जो स्वादिगण में विद्यमान है निष्पन्न होता है। राज के विशेष अधिकारी अथवा राजदूत को भी दूत इसी कारण से कहा जाता है कि वह शीघ्रतर गुह्य (छिपी हुई) बातों (भेदों) को निश्चयात्मक रूप से ज्ञात कर ले आने और पहुंचाने में विशेष प्रकार से समर्थ होता है।

इसके साथ साथ यदि श्री सायण के उपरोक्त दिये हुए भाष्य पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि वह आधिभौतिक अर्थ तो फिर भी सुसंगति रूप से प्रकट करता है क्योंकि उन्होंने भाव यह दर्शाया है कि अग्नि के उत्पन्न होने से पहले यजमान लोग ज्योंही अग्नि के गर्भ अर्थात् अरणियों को धारण करते हैं त्योंही अग्नि उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् उनके होम हुए हव्य पदार्थों को वायु आदिक देवों को पहुंचाने लगता है और यह एक ऐसी सत्यता है जिसको प्रत्येक याज्ञिक वा

यज्ञ का दर्शक सरलता से देख सकता है। 'राम' शब्द का "मार्ग" अर्थ भी उपरोक्त अर्थों में ठीक ठीक घट जाता है। 'एम' का अर्थ चाहे "हम प्राप्त हों" क्रिया रूप में किया जावे, चाहे 'मार्ग' का अर्थ किया जावे उससे विवादास्पद मन्त्र के अन्तिमभाग के अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

परन्तु यदि हम उपरोक्त दोनों भाष्यों को छोड़ इस मन्त्र का अर्थ महर्षि दयानन्द कृत भाष्य में देखें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने किस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ उत्तम रीति से किया है और किस प्रकार मन्त्र के अर्थ में प्राकृतिक और वैज्ञानिक सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है जो न केवल बुद्धि ग्राह्य है किन्तु वेदों के प्रति हृदय को भी आकर्षित करने वाला है।

महर्षि लिखते हैं :—

(कृष्णम्) कर्षकम् (ते) तव (एम) प्राप्नुयाम (रुशतः) सुरूपस्य रुचिकरस्य (पुरः) पूर्वम् (भाः) प्रकाशमान (चरिष्णु) यच्चरति गच्छति (अर्चिः) तेजः (वपुषाम्) रूपवतां शरीराणां (इत) एव (एकम्) असहायम् (यत्) (अप्रवीता) अगच्छन्ती (दधते) धरति (ह) खलु (गर्भम्) अन्तः स्वरूपं (सद्यः) शीघ्रम् (चित्) अपि (जातः) प्रकटः भवसि (इत्) (उ) (दूतः) दूत इव वर्त्तमानः।

अन्वयः—हे विद्वन् रुशतस्ते यत् कृष्णंपुरो भाश्चरिष्णु वपुषामेक मर्चिरिदस्ति तद्वयमेम हे विद्वन् यथाऽप्रवीता गर्भं दधते तथाह सद्यश्चिज्जाते। दूत इत्रेदु भवसि तस्मात्सत्कर्त्तव्योसि।

जिसका भावार्थ महर्षि ने इस प्रकार दिया है :—

हे अध्यापक कृपालो त्वं विद्युत्तेजसो विद्यामस्मान् बोधय येन तेजसा दूतवत् कर्माणि वयं कारयेम।

अर्थात्—हे विद्वान्! जिस उत्तम रूपयुक्त, प्रीतिकारक आपको-जो खींचने वाला प्रथम प्रकाशमान् चलने वाला रूप वाले शरीरों में सहाय रहित तेज है उसको हम लोग प्राप्त होवें और हे विद्वन् जैसे नहीं जाती हुई स्त्री अन्तः स्वरूप को धारण करती है वैसे निश्चय से शीघ्र ही प्रकट दूत के सदृश वर्त्तमान ही होते हो उससे तुम सत्कार करने योग्य हो।

उपरोक्त उद्धरण से प्रकट है कि 'अप्रवीता' शब्द के अर्थ महर्षि ने अगच्छन्ती अर्थात् गतिरहित स्त्री के लिये हैं जो कि उक्त शब्द का नैसर्गिक अर्थ है और इस बात का द्योतन किया है कि जिस प्रकार स्त्री अचंचल होकर गुह्य गर्भ को धारण करती है उसी प्रकार विशिष्ट विद्वान् भी निश्चय रूप से वास्तविक भेदों और मर्मों का ज्ञान उपलब्ध कर उनको अपने भीतर अज्ञातरूप में धारण करता है और उनको दूतवत्

अन्यों से लेता और विशेष प्रकार से द्योतन करता है। प्रत्यक्ष है कि इस उपमा में यह भाव बड़ी उत्तमता से प्रविष्ट है कि दूत कर्म्म के लिये दूसरे के भेदों को निश्चयात्मक रूप में ज्ञात करना और उनको अत्यन्त सावधानी से गुह्य और गुप्त रखना उसी प्रकार आवश्यक है जैसे कि एक निश्चल स्त्री गर्भ को धारण कर उसको दूसरों से अनवगत रखती है। यदि ध्यान से देखा जावे तो अग्नि भी यही काम करता है अर्थात् हव्य पदार्थों को सूक्ष्माकर इस प्रकार अदृश्य रूप में अपने भीतर प्रविष्ट कर लेता है कि स्थूल आंखों से उन गर्भगत पदार्थों को हम किसी प्रकार नहीं देख सकते और अदृश्य दशा में वह हव्य पदार्थों का वायुमण्डल में वहन करता रहता है।

सारांश यह कि ऐतिहासिक कृष्ण महाराज जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम का भी वेदों में सर्वथा अभाव है और यह निष्कर्ष हमको इस बात के कहने का साहस देता है कि वेदों के समीचीन अर्थों को हम उसी दशा में पा सकते हैं जब कि हम वैदिक शब्दों के नैसर्गिक अर्थ करने में ही तत्पर रहे और महर्षि के पद चिन्हों पर चलने का सततप्रयत्न करें।

क्रमशः

फूल

चुरा लिए तूने जो तारे नभ के थे हे माली।
छिपा छिपा कर कब तक उनकी कर सकता रखवाली॥
अरे ! मौन क्या पड़े रहेंगे ये धरती के भीतर।
सभी फूल बन उठ आवेंगे एक एक कर ऊपर॥

—सत्यप्रकाश

(२४)

विभ्राजञ् ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥

(ऋग्वेद ८ । ९८ । ३)

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् ईश्वर (ज्योतिषा) प्रकाश से (स्वः) प्रकाश स्वरूप लोकों को (विभ्राजत्) प्रकाशवान् करते हुये आप (रोचनं) प्रकाश युक्त (दिवः) द्यौलोक के उस पार (अगच्छः) चले गये हैं । (ते) आपके (सख्याय) मित्रता के लिये (देवाः) विद्वान् लोग (येमिरे) कोशिश करते हैं ।

इस मंत्र में पहली बात यह बतलाई है कि संसार में अग्नि, बिजली, नक्षत्र आदि जितने चमकदार पदार्थ हैं उनमें ईश्वर की ही दी हुई चमक है । वस्तुतः ईश्वर ही प्रकाश का पुञ्ज है । अन्य वस्तुओं में प्रकाश ईश्वर से आता है । जिस प्रकार सूर्य्य निकलते ही हरे फूल को हरा और पीले का पीला बना देता है उससे पहले रात्रि की अंधेरी में उनका हरा और पीलापन प्रतीत नहीं होता इसी प्रकार परमात्मा अपने प्रकाश से सब वस्तुओं को प्रकाशवान कर देता है । "स्वः" नाम है प्रकाशयुक्त पदार्थों का इसमें सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि सभी शामिल हैं। इनमें प्रकाश कहां से आया ? वेद उत्तर देता है कि "इन्द्र" अर्थात् ईश्वर ने ज्योतिषा अर्थात् अपनी ज्योति से "विभ्राजत्" अर्थात् सब को प्रकाशमय कर दिया। सूर्य्य जब प्रातःकाल उदय होता है तो मानो अपनी सुनहरी रंग की कूंची

संसार की सभी वस्तुओं पर फिरा देता है जिससे यह सब चीजें सुनहरी सी दिखाई देती हैं। इसी प्रकार प्रलय अवस्था में परमाणुओं में किसी प्रकार का प्रकाश या विकास नहीं होता। वह अन्धकारमय होते हैं। परन्तु ईश्वर की प्रेरणा पाते ही वह सब प्रकाशयुक्त होने लगते हैं। मानो ईश्वर अपने प्रकाश को उन अन्धकारमय पदार्थों में प्रविष्ट सा कर रहा है। परन्तु ईश्वर का यह प्रकाशीकरण वहीं समाप्त नहीं होता सूर्य्य की किरणें संसार भर को प्रकाशित करती हैं परन्तु सूर्य्य स्वयं बहुत दूर ऊपर चमक रहा है। वह द्यौलोक से परे हैं। इसी प्रकार ईश्वर संसार में अपना प्रकाश फैलाता हुआ भी इस संसार से कहीं ऊपर है अर्थात् वह यहां से बहुत परे है। यह परे होना या दूरी देश सम्बन्धी नहीं किन्तु स्वरूप सम्बन्धी है। सृष्टि भर ईश्वर के प्रकाश से प्रकाशित होती हुई भी ईश्वर नहीं हो जाती, फूल में सूर्य्य का प्रकाश है अवश्य परन्तु यदि वास्तविक सूर्य्य को जानना चाहते हो तो सूर्य्य का अलग से निरीक्षण करो। इसी प्रकार यद्यपि संसार भर में ईश्वर का प्रकाश है तब भी इस प्रकाश के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये संसार सीमा से बाहर असंसारी ईश्वर का ध्यान करना आवश्यक है। यही कारण है कि विद्वान् लोग इस संसार के प्रकाश को साधारण निचली श्रेणी के लोगों के लिये छोड़ते हुये 'इन्द्र' की 'सख्याय' या मित्रता के लिये यत्न करते हैं। प्रकाशित वस्तुओं से प्रकाश उतना ही बड़ा है जैसे मीठे गन्ने की अपेक्षा वह चीनी जिसने गन्ने को मीठा किया हुआ है परन्तु उस चीनी से भी मीठा चीनी का भण्डार है जहाँ से गन्ना आदि सभी मिष्ठ पदार्थ माधुर्य्य को उधार लेते हैं। इसी प्रकार प्रकाश से भी उन्नतम प्रकाश का वह कोष है जिसको ईश्वर या इन्द्र कहते हैं और वहाँ से प्रकाश निकल कर संसार के प्रकाशवान् पदार्थों को प्रकाशित करता है।

इस वेद मंत्र के शब्द-विन्यास में विशेष लालित्य है जो अनुवाद में बताया नहीं जा सकता। इसको जितनी बार पढ़ा जाय उतनी बार ही आत्मा को आह्लाद होता है ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रभु की ज्योति हमारे अन्धकारमय हृदय को प्रकाशयुक्त कर रही है।

भारतवर्षीय आर्य

[पं० शिवशर्मा जी महोपदेशक, आर्य० प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त]

(भाग ४, अंक २१ से आगे)

र्य्य समाज ने अपने जन्मकाल से वैदिक धर्म ग्रहण करने और ऊपर उठने का सब को समानाधिकार दिया है, जिसका ज्वलन्त प्रमाण इस समय भारतवर्ष के प्रत्येक कोने में दृष्टिगत हो रहा है। यही नहीं कि केवल शिखासूत्र धारियों तक ही इस अधिकार को सीमित रक्खा हो, किन्तु अहिन्दू तक इस अधिकार से वञ्चित नहीं रहे हैं। लाखों ऐसे अस्पृश्यों को यज्ञोपवीत देकर द्विज बना दिया, जिनके हाथ का जल क्या फल भी हिन्दू ग्रहण करना उचित नहीं समझते थे। यही नहीं कि केवल यज्ञोपवीत देकर ही उनको छोड़ दिया हो, अथवा उनके हाथ का भोजनादि ग्रहण करने पर ही बस किया हो, किन्तु उनको सच्चा द्विज बनाकर सन्ध्या वन्दनादि का समानाधिकार देकर उनसे वैवाहिक सम्बन्ध भी प्रायः कर कराया है। सहस्रों वर्षों की कड़ी गृन्थी को आर्य्यसमाज ने बहुत कुछ ढीला कर दिया है। जो मंजिलें सहस्रों वर्षों में तय होने को थीं उनको आधी शताब्दी में पार कर डाला है। आर्य्यसमाज को अभी अपने इतने कार्य पर न गर्व है, न सन्तोष। वह तो वह दिन देखना चाहता है कि जिस दिन 'अछूत' शब्द केवल किसी किसी पुस्तक में ही पड़ा हुआ दिखाई दे।

हाँ, इतना अवश्य ही याद रखना चाहिये कि—आर्य्यसमाज शिखा सूत्र का लोप करके, ऋषियों मुनियों का नाम मिटाकर, वेद-शास्त्रों को पीठ पीछे फेंक कर, राम और कृष्ण को डुबोकर और आर्य्य सभ्यता को खोकर अछूतोद्धार करना नहीं चाहता। दूसरे अछूतोद्धारक (?) और आर्य्यसमाज में केवल इतना ही अन्तर है कि वे तो इस अस्पृश्यता के मिटाने का सौदा किसी विशेष पणबन्ध के साथ कर रहे हैं। वे पणबन्ध है—शिखासूत्र का त्याग, वेद शास्त्रों का अग्नि संस्कार, भारतीय सभ्यता को तिलाञ्जलि, ऋषि और मुनियों का अपमान और संस्कृतादि भाषाओं का वहिष्कार। क्या हमारे दलित भाई शिखादि को लगा कर इन अछूतोद्धारकों के गले से लिपटेंगे? क्या आर्य्यजाति

को खण्ड खण्ड करके निर्बल बनाने में अपनी महत्ता समझेंगे ?

आज कल के अछूतोद्धारक इस अछूतपने का कारण विशेष कर मनुस्मृति को ही समझते हैं। इसको भस्मसात् करके ही अपना कलेजा ठंडा करते हैं। वे समझते हैं कि मनुस्मृति पर अपना रोष प्रकट करने से हमारी और हमारे साथियों की अस्पृश्यता दूर हो जायगी। यह कार्य उनका सूर्य पर थूकने के समान है।

मनुस्मृति और शूद्र

मनु महाराज ने हिन्दू जाति के दो भाग किये हैं—द्विज और शूद्र। यथा—

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः॥"

(मनु० १०-४॥)

मनु महाराज ने यदि मनुष्य समाज के चार भाग किये तो कौन सा अपराध कर दिया? क्या यह विभाग अस्वाभाविक है? यदि संसार की मानव जाति पर दृष्टि डाली जाय तो यही चार विभाग दृष्टिगोचर होंगे।

१—ब्राह्मण = पादरी = मौलवी, सैयद = लामा =

२—क्षत्रिय = मिलिटरी = पठान =

३—वैश्य = मर्चेंट = सौदागर

४—शूद्र = लेबरपार्टी = मजदूर = शेख

क्या शूद्रों को द्विजों से पृथक् गिनना महा पाप है? क्या लेबरपार्टी को अन्य लिबरल आदि से पृथक् नहीं गिना जाता? अब रहे "शूद्राणाम निरवसिता नाम्" अष्टाध्यायी २।४ १० के अनुसार शूद्रों के दो भेद = निरवसित और अनिरवसित। अर्थात् वहिष्कृत। शूद्रों का यह विभाग स्वास्थ्य रक्षा से सम्बन्ध रखता है। लेबरपार्टी में भी दो भेद हैं—एक जैंटिलमैन और लो या मीन्स = (Law and Means)। ठा० गदाधरसिंह जी ने हमको बताया कि एक बार हमने लंदन में एक गली में होकर जाने का इरादा किया। एक फौजी सरदार ने कहा कि "इस गली से न जाइये। इसमें कमीन लोग रहते हैं।" बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस ईसाई देश में नीच लोगों की गली में जाना मैले आदमी पसन्द न करें, वहीं ईसाई लोग उन ब्राह्मणादि द्विजों की इसलिये निन्दा करें कि "इन्होंने = द्विजों ने शूद्रों को वहिष्कृत कर रक्खा है—यह अन्याय है।

याद रखना चाहिये कि जिसमें न विद्या होगी न वीरता और न व्यापार शक्ति होगी न प्रबन्ध शक्ति, उसको विवश होकर सेवा करनी होगी। बस यही वैदिक परिभाषा में "शूद्र" कहाता है। इन शूद्रों में भी जो इतने पतित हो गये हैं कि जिनके भक्ष्याभक्ष्य का कोई विचार नहीं, शौच विधि पर कोई ध्यान

नहीं, जिनके संसर्ग से रोग उत्पन्न होने का भय हो वे सदैव ही निरलसित=वहिष्कृत सब भले आदमियों से समझे जायेंगे। चीन के यात्री ने दक्षिण देश का वर्णन करते हुए लिखा है कि—'वहाँ पर राजाज्ञा द्वारा किसी भी प्रकार के माँस के बेचने की आज्ञा नहीं थी। वहाँ पर कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्होंने इस आज्ञा को नहीं माना। वे नगरों के बाहर बसा दिये गये। उनका नगर के भीतर आना रोक दिया गया। यह उनके लिये दण्ड था।" क्या इस दण्ड को कोई अन्याय कह सकता है ?

म्लेच्छ जिसको कहते हैं ? यह भी समझ लेना चाहिये। "म्लेच्छ"=अव्यक्ते शब्द धातु से म्लेच्छ शब्द बना है। म्लेच्छ उसको कहते हैं जो ठीक ठीक भाषा न बोलता हो=असंस्कृत भाषा बोलता हो। यह शब्द कोई घृणोत्पादक नहीं है। भारतवर्ष की जिस समय संस्कृत भाषा थी, उस समय जो विदेशी यहाँ पर संस्कृत से भिन्न भाषा बोलते हुए आये, यहाँ के निवासियों ने उनको इसलिये म्लेच्छ कहा कि वे विदेशी असंस्कृत भाषा बोलते हैं।

आर्य्य और अनार्य्य=मानवी समुदाय के दो भेद=सभ्य और असभ्य (Civilized and uncivilized) दो भेद मनु महाराज ने कर दिये तो क्या अपराध किया ? यदि कोई आर्य्य अनार्य्य बन जाये अथवा अनार्य्य आर्य्य बन जाय अर्थात् एक दूसरे का कर्म करने लगे तो मनु महाराज ने लिख दिया कि इसमें कोई दोष नहीं।

"अनार्यमार्यकर्माणमार्यमाचानार्य कर्मिणम्। संप्रधार्या ब्रवीद्धाता न समौ नासमाविती।"

(मनु० १०-७३)

अर्थात्—द्विज शूद्रों के करने वाले और शूद्र, द्विजों के कर्म करने वाले, इनको ब्रह्मा ने विचार कर कहा कि नये सम हैं न असम हैं।

मानव धर्म के अनुसार यदि कोई शूद्र=लेबर आर्य्यों के से कर्म करने लगे तो वह करे और इसी प्रकार एक आर्य्य भी अनार्य्य के कर्म करने में स्वतन्त्र है। लार्ड एक लेबर बन सकता है। एक लेबर भी इस ही नियम से लार्ड बन सकता है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि पिछली अवस्था याद रक्खे और लार्ड से लेबर बने हुए को लार्ड ही पुकारता रहे और लेबर से लार्ड बने हुए को लेबर ही कहता रहे। इसमें कोई सिद्धान्त दोष नहीं। शूद्र और पाक कर्म=भोजनादि बनाना भी सेवा धर्म है। सेवा कर्म वही स्वीकार करेगा जिसमें न विद्या हो न बल, न धन हो न व्यापार शक्ति। यदि इस प्रकार के गुण हीन दूसरों की सेवा करें तो मनु का क्या दोष ? एक मूर्ख मनुष्य किसी विज्ञ के अधिकार में रह

का कार्य करें तो कार्य उत्तम होगा, राज मज़दूर लोग एक ओवरसियर की अधिष्ठता में रह कर भुवन निर्माण करें तो अच्छा होगा। ठीक इसी प्रकार पाक-कर्त्ता यदि आर्य्यों की देख-रेख में पाक क्रिया करे तो शुद्ध और स्वच्छ भोजन बनेगा। स्नान और केश मुण्डन आदि स्वास्थ्य रक्षा से सम्बन्ध रखते हैं।

संसार में यह नियम है कि जो मनुष्य अपने गुण, कर्म और स्वभावानुसार योग्यता रखता है उससे वैसा ही काम लिया जाता है। किसी स्टेशनों पर पानी पिलानेवाले से कोई वेद कथा और शास्त्रार्थ नहीं करता। न कोई जज से कुलीपन का काम लेता है। यदि कोई कुली अपने को जज कहे तो दण्डनीय है। जज को कुली कहना भी इसी प्रकार अनुचित और असंगत है। हाँ कुली उन्नति करने में स्वतन्त्र हैं और जज भी अवनति की ओर स्वेच्छा से जा सकता है। जिसका स्वभाव, सेवा करते करते शूद्रता का पड़ गया है उसके लिये मनु जी कहते हैं कि—

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेववा।

(मनु – ८-४। १३)

अर्थात्—अनपढ़ से सेवा ही का काम ले। चाहे मोल लिया हो या नहीं, आदि। क्या कोई बोधानन्द और अछूतानन्द अथवा ईसाई मिशन की किसी कुली को चीन का राष्ट्रपति, भारत का सम्राट् या इङ्गलैंड का महामन्त्री बना देंगे? योग्यता प्राप्त करने पर ही उन्नति कर सकता है अन्यथा नहीं। भारतीय इतिहास में सहस्त्रों उदाहरण ऐसे विद्यमान हैं जिनमें शूद्र और चाण्डाल तक से ऋषि और मुनि बन गये। अन्य देशों में भी ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं। मनु महाराज अथवा आर्य्यों को पक्षपाती कहना नितान्त अनुचित और गहरी भूल है।

लेबर-या शूद्र वही कहाते हैं जो सेवा करे। यहां सेवासे आशय उस सेवासे नहीं है जो देश सेवा अथवा धर्म सेवा कहाती है। किन्तु वही सेवा जो कोई गुण न रखने पर मेहनत मजदूरी कहाती है। शूद्रों की मेहनत मजदूरी के विषय में मनु महाराज की कितनी न्याययुक्त आज्ञा है, सो सुनिये—

"प्रकलया तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथाहितः। शक्तिचावेक्ष्य दाक्ष्यंच भृत्यानाञ्च परिग्रहम्"।

(मनु १०। २४)

अर्थ=उस नौकर की नौकरी, सामर्थ्य और काम में चतुराई तथा उसके कुटुम्ब का व्यय देखकर अपने घर के अनुसार उन (द्विजों) की जीविका नियत कर देनी चाहिये।" उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानिच। पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः।

(मनु १०। २५।)

अर्थ=शेष बचा हुआ अन्न, पुराने कपड़े, धान्यों की छटन और पुराने वर्त्तन इनको दे देने चाहिये।

पाठकगण आप विचारें कि इस आज्ञा से मेहनती मजदूरों पर कौन सा अत्याचार हो गया। आज पूंजी पतियों और मजदूरों में इसी लिये तो युद्ध हो रहा है कि पूंजीपति मजदूरी पूरी नहीं देते। पुराने वस्त्रादि मजदूरी से पृथक् पारितोषिक रूप में दे देना कौन सा पाप है? यदि कोई ऐसा आपत्ति का समय आ जाय कि शूद्र धनी बनकर विद्वानों का मुक़ाबला करने पर उतारू हो जाय तो राजा को उचित है कि उस शूद्र को अर्थ दण्ड देकर उसका संपूर्ण धन हर ले। यह दण्ड केवल घमंडी मजदूरों के लिये है न कि भलेमानस के लिये।

(मनु १० । १ २९)

बहुत ऐसे अयोग्य व्यक्ति भी हैं जो बिना प्रमाण पत्र के उच्च पुरुषों की रीस करते हैं, राजा को उचित है कि उनको देश निकाले की सज़ा दे। इसके लिये देखो मनु अध्याय १०। ९६। जो कुछ मनु ने लिखा है वह सब इस सभ्यता के समय में भी हो रहा है। मनु को दोष देना वृथा है।

सदैव संसार एकरस नहीं रहता। कभी कभी पूंजीपतियों और मजदूर पार्टियों में वैमनस्य इतना बढ़ जाता है कि एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। एक दूसरे के नाश में प्रवृत्त होते हैं। ऐसा समय कभी भारत में भी हो गया होगा। उस समय किसी पूंजीपति ने मानव धर्म शास्त्र में ऐसे वचन मिला दिये होंगे जो शूद्रों के अहित-कर होंगे। अतः ऐसे ऐसे श्लोक मनु अ० ४। ८०-८१। में विद्यमान हैं। ये सारे ही श्लोक त्याज्य हैं। दसवें अध्याय में मनुजी शूद्रों को धर्म का अधिकार बताते हैं" देखो—

(मनु १०। १२६, १२७)

कुछ शूद्र ऐसे होते हैं वेतन न पाकर दास अथवा क्रीतदास होते हैं। उसके लिये मनु महाराज ने यह नियम रक्खा है जो धन सम्पति उनके पास हो वह उसके स्वामी की हो। जब सारा शरीर ही स्वामी का है तो धनादि की क्या कथा? इसके लिये देखो मनु अ० ८। ४१७) इस न्याययुक्त व्यवस्था के लिये मनु दोषी नहीं ठहर सकते।

हिंसा करना महा पाप है। बिल्ली न्यौला आदि मारने में भी पातक है और उतना पातक है जितना शूद्र के मारने में। बे पढ़ों से पढ़े लिखों की जान अधिक मूल्यवान् है। इस आज्ञा से शूद्रों की तुच्छता सिद्ध नहीं होती किन्तु बिलार आदि जन्तुओं के मारने में भी पाप बताया है। देखो मनु अ० ११। १३१

मनु महाराज ने अ० ८। २६७, २६८, २६९ में गाली देने का दण्ड विधान किया है। जो ब्राह्मण शूद्र को गाली दे तो

१२ पण दण्ड पावे। शूद्र ब्राह्मण को गाली दे तो बेंत आदि से पीटने योग्य है। इन श्लोकों में जहाँ शूद्र को गाली देना मना है, वहां ब्राह्मणादि द्विज भी किसी को गाली न दें, यह लिखा है। योग्य अयोग्य का विचार सर्वत्र ही रहता है। क्या एक विशप या वायसराय को गाली देने वाला उतना ही दण्ड पाता है जितना एक साधारण मजदूर को गाली देने पर? २७०वाँ श्लोक त्याज्य है। आठवें अध्याय के श्लोक २७१, २७२ भी त्याज्य हैं क्योंकि किसी महाद्वेषी के मिलाये हुए हैं। २७९ और २८० श्लोकों में बताया है कि जो अन्त्यज गर्व से किसी द्विजाति का मुक़ाबला करे तो उसका अङ्ग छेदन करे। इन श्लोकों में आगे पीछे क्रोध और अहङ्कार शब्द पड़े हुए हैं। इससे सिद्ध है कि यदि कोई नीच पुरुष किसी बड़े आदमी की तौहीन करे मनुष्यावस्था से वह अमुक अमुक दण्ड पावे। स्वार्थी पुरुष "अन्त्यज" के स्थान शूद्र" शब्द लगाते हैं सो अन्याय है। इस सारी व्यवस्था का सार है कि अयोग्य और योग्य में सदैव पहचान बनी रहें। कोई योग्य अयोग्य की समता न करे। इससे प्रबन्ध में गड़बड़ पड़ती है क्या हाउस आफ लार्ड में एक अन्त्यज बैठ सकता है? क्या जो आसन एक योग्य राष्ट्रपति के लिये नियत है, उस पर यदि कोई मूर्ख घसियारा बैठना चाहे तो दण्डनीय नहीं होगा? क्या एक महान् विद्वान् का सामना करने वाला मूर्ख दण्डनीय नहीं है? संसार में राज्य-व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, परिवार व्यवस्था और साधुव्यवस्था सब पृथक् पृथक् है? संपूर्ण परिषद् और मण्डल साधु मण्डल व योगियों की कुटियाँ नहीं हैं। नवीतरागों के विहार हैं। कहीं क्षुद्र कीटों के मारने का महा पाप है तो कहीं लक्षों सेनाओं का बध महापुण्य का कारण है।

क्रमशः
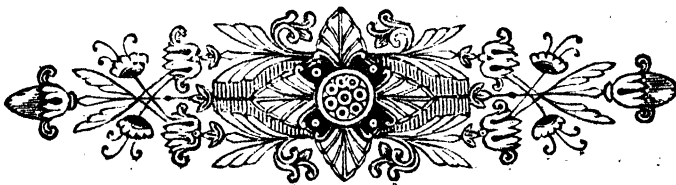
राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

(गतांक से आगे)

अब तक केशव बाबू के समाज के लिये कोई मन्दिर न था। जनवरी १८६८ ई० में ब्रह्म मन्दिर का निर्माण आरंभ हुआ। मार्च १८६८ ई० में बा० केशव चन्द्र सेन बम्बई तथा संयुक्त प्रान्त (पुराना पश्चिमोत्तर देश) आदि में प्रचार करने के लिये निकले। वहाँ उनका अच्छा स्वागत हुआ और बम्बई आदि में प्रार्थना समाज खुल गये जिनको ब्रह्म समाज का एक प्रकार का बम्बई एडीशन (Bombay Edition) कहना चाहिये। इस यात्रा के पश्चात् मुंगेर में ठहरे। यहां उनके भक्ति के व्याख्यानों पर लोग ऐसे लट्टू हुये कि उनको साष्टांग दण्डवत करते और उनको महात्मा बुद्ध तथा महाप्रभु चैतन्य के समान समझते। कुछ ने यहाँ तक कहा कि हमने इनके सम्बन्ध में अलौकिक बातें भी देखी हैं। कुछ ने कहा कि ईसा में और केशव में बड़े छोटे भाई का ही अन्तर है।

यह बात केशव के बहुत से साथियों को पसन्द न आई। उन्होंने आक्षेप किया। केशव कहते थे कि यह बात मुझे भी प्रिय नहीं। परन्तु मैं दूसरों को कैसे रोकूं? जैसे मेरा आत्मा स्वतंत्र है उसी प्रकार उनका भी स्वतंत्र है। वह मेरी पूजा उचित समझते हैं। श्रीयुत पी० सी० मजूमदार ने जो उनके साथियों में से थे इस विषय में यह लिखा है।

He did not want it, but when it came, he saw in it the hand of God. It was to him valuable testimony that the spirit of God was with him, that his work was true, and his time had come. He did not want to repel the men, who approached him with their homage of admiration, lest he might do harm to any part of their better nature, but he gave frequent hints that what they were doing was liable to misrepresentation. (P. 112)

"वह इसको चाहते न थे, परन्तु जब यह घटना हुई तो उन्होंने जाना कि इसमें ईश्वर का हाथ है। उनके लिये यह एक बहुमूल्य प्रमाण था कि ईश्वर का आत्मा मेरे साथ है, मेरा काम सच्चा

है और मेरा समय आ गया है। जो लोग उनके पास श्रद्धा और भक्ति के साथ आते थे उनको वह दूर करना नहीं चाहते कि कहीं उन लोगों की प्रकृति के उच्च अंश को हानि न पहुँचे। परन्तु उन्होंने बहुधा यह संकेत कर दिया था कि जो कुछ तुम लोग कर रहे हो उससे भ्रम फैलने की संभावना है"। (केशवचन्द्रसेन का जीवन चरित्र पृ० ११२)।

उनके ऊपर यह आक्षेप चलाया गया कि तुम अपनी पूजा कराते हो। उसका उन्होंने जो उत्तर दिया वह ऊपर के शब्दों से प्रकट है। उन्होंने एक पत्र में लिखा:—

"I have never fallen into the error of supposing that if I pray to God, as a mediator for others, He will forgive or save them."

"अर्थात् मैंने कभी यह भूल नहीं की कि मैं यह मानलूं कि यदि मैं ईश्वर से दूसरों के लिये प्रार्थना करूंगा तो वह उनको क्षमा कर देगा या उनका उद्धार कर देगा"। केशवचन्द्रसेन महाशय अगस्त १८६८ में मुंगेर से शिमले चले गये क्योंकि लार्ड लारेंस ने उनको बुलाया था। वहाँ इन्होंने अन्तर्जातीय विवाह को विहित (जायज़) करार दिलाने के लिये मैरिज बिल (Marriage Bill) या विवाह का कानून पेश कराया। यह बिल १० सितम्बर १८६८ ई० को गवर्नर जनरल की कौंसिल में पेश हुआ और बहुत बड़े विरोध के बाद १९ मार्च १८७२ को "देशी विवाह का कानून" (Native marriage act) के नाम से पास हुआ। पहले इसका नाम (Brahmo-marriage Act) अर्थात् ब्रह्म-विवाह-एक्ट रक्खा गया था। परन्तु आदि समाज के लोगों ने विरोध किया। वह उस बिल को अपने ऊपर लागू करना नहीं चाहते थे। वह अपने को हिन्दू समझते थे। इसलिये केशव बाबू बिल में कुछ परिवर्तन करने पर राजी होगये। एक्ट के अनुसार वर और बधू को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि हम "हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी बौद्ध, सिख या जैन मत के मानने वाले नहीं हैं"। केशवचन्द्रसेन के परामर्श से उनके ब्रह्मसमाज की ओर से जो प्रार्थना पत्र गया था उसमें स्पष्ट लिखा था कि

"Term 'Hindu' does not include the Brahmos, who deny the authority of the Vedas, are opposed to every form of Brahmanical religion and being eclectics admit proselytes from Hindus, Mohamedans, Christians & other religious sects."

अर्थात् 'हिन्दू' शब्द ब्रह्म समाज वालों पर लागू नहीं होता क्योंकि वे वेद को प्रमाणिक नहीं मानते, ब्राह्मण धर्म के

सभी पक्षों के विरुद्ध हैं और चूंकि अपने सिद्धान्तों को सब से चुन कर बनाया है इसलिये हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई और अन्यधर्म वाले सभी ब्रह्म समाज में प्रवेश करा सकते हैं"।

केशवचन्द्र के साथी 'हिन्दू' शब्द को छोड़ना नहीं चाहते थे। उनकी अपनी आदतें भी हिन्दुओं जैसी ही थीं। वह विदेशी फैशन के विरोधी थे। परन्तु या तो वह 'हिन्दू' शब्द को त्यागते या विवाह-एक्ट को। उन्होंने अपने मन को यह संतोष दे लिया कि 'हिन्दू' शब्द मूर्ति पूजकों के लिये रूढ़ि हो गया है अतः हम इस अर्थ में हिन्दू नहीं हैं।

इसी बीच में केशव बाबू इंग्लैण्ड भी हो आये। १५ फर्वरी १८७० को गये और १५ अक्टूबर सन् १८७० ई० को बम्बई में वापिस आ गये। इङ्गलैण्ड में उनका बड़े समारोह से स्वागत हुआ। उनके व्याख्यानों की धूम रही। उनकी महाराणी विक्टोरिया से भी भेंट हुई। उन्होंने 'ईसाई' धर्म की बहुत प्रशंसा की। बम्बई में प्रार्थना समाज में उनका व्याख्यान हुआ। २० अक्टूबर को वह घर आये।

आने पर जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, विवाह का कानून पास हो गया था। केशवचन्द्र सेन ने इसको अपनी समाज सुधार सम्बन्धी विजय समझा और आध्यात्मिकोन्नति के निमित्त एक आश्रम खोला जिसका नाम "भारत-आश्रम" रक्खा गया। इसमें भ्रातृत्व का भाव उत्पन्न करने के लिये उन्होंने कई ब्राह्म सामाजिक परिवारों को रक्खा। नर नारी भाई बहिन के समान रहते और अपना आध्यात्मिक सुधार करते थे। इस जीवन का मुख्य सिद्धान्त यह था कि अपने वैयक्तिक जीवन को सर्वथा भुला दिया जाय। इससे पहले प्रार्थना अपने कल्याण के लिये की जाती थी। अब सबके कल्याण के लिये की जाने लगी। भोजन साथ, स्वाध्याय साथ, पूजा साथ, काम साथ। भारत आश्रम पांच वर्ष चला और अच्छा चला। परन्तु कुछ लोग केशव बाबू के विरुद्ध हो गये। उसके मुख्य तीन कारण बताये जाते हैं:—(१) केशव बाबू ने मनुष्य-पूजा और विशेष कर अपनी पूजा की प्रथा चला दी (२) केशव बाबू मानने लगे कि ईश्वर भक्तों के मन में अपने विशेष आदेश भेज देता है। (३) कुछ लोग सामाजिक सुधारों में केशव बाबू से सहमत न थे। उनका कहना था कि केशव बाबू स्त्रियों के लिये कुछ नहीं करते। बात यह है कि श्री केशवचन्द्र सेन जी स्त्रियों की उच्च यूनीवर्सिटी सम्बन्धी शिक्षा के विरुद्ध थे। वह बालविधवा विवाह के तो पक्ष में थे परन्तु स्त्री और पुरुष दोनों के पुनर्विवाहों को अच्छा नहीं समझते थे। वह बाल विवाह के कट्टर विरोधी थे परन्तु

वह चाहते थे कि स्त्रियों की मंगनी छोटी अवस्था में ही हो जाया करे। उनको यह बात पसन्द न थी कि लड़कियों का विवाह बड़ी आयु में हो। यद्यपि वह अन्तर्जातीय विवाह के सबसे पहले पोषक थे तथापि उनका कथन था कि जहां तक उचित प्रबन्ध हो सके अपनी ही बिरादरी में विवाह करना चाहिये।

इस प्रकार उनके कुछ साथी उनसे अलग हो गये। अब केशवचन्द्रसेन अपना ध्यान योग और भक्ति की ओर अधिक देने लगे। उन्होंने एक बाग़ लिया जिसका नाम "साधन कानन" रक्खा। यहाँ वह और उनके कुछ साथी योग की साधना करते थे। यहीं से उनको एक नई स्फुर्ती हुई और उन्होंने नव विधान (New Dispensation) की नींव डाली। अब उनको निराकार-उपासना में आनन्द नहीं आता था। वह हिन्दू मन्दिरों के भजन, पुष्प, दीप, नैवेद्य की ओर आकर्षित हो चले थे। वे कभी कभी रहस्यमय गूढ़ बातें कह जाते थे जिनका अर्थ दूसरों की समझ में नहीं आता था। पहले तो उनकी प्रार्थनायें केवल शब्द-मय होती थी। अब वह इन के साथ साथ कुछ कृत्य भी चाहते थे। वह कभी किसी मन्दिर में नहीं गये, न मूर्ति पूजी। परन्तु हिन्दुओं की पूजा का सा भाव उनकी पूजा में भी झलकने लगा। नव-विधान या न्यू डिस्पेंसेशन का क्या सिद्धान्त था? इसका कुछ कुछ हाल केशव बाबू के शब्दों में ही सुनिये। जब १८८१ ई० का वार्षिकोत्सव हुआ और नव-विधान का झंडा गाड़ा गया तो उन्होंने कहा था :—

"Behold the flag of the new Dispensation. The silken flag is crimson with the blood of martyrs. It is the flag of the Great King of Heaven & Earth, the one supreme lord... Behold the spirits of all the prophets & saints of heaven assembled overhead, a holy confraternity in whose union is the harmony of faith, hope & Joy. And at the foot of the holy standard are the scriptures of the Hindus, Christians, Mahomedans & Buddhists, the sacred repositories of the wisdom of ages and the inspiration of saints, our light, and our guide. Four scriptures are here united in blessed harmony, under the shadow of this flag. Here is put together the international fellowship of Asia, Europe, Africa and America."

"अर्थात् नव-विधान के झण्डे को देखो। रेशमी झण्डा शहीदों के रक्त से लाल है। यह झण्डा है परम प्रभु का जो आकाश और भूमि का महाराजा है देखो सब पैग़म्बरों और स्वर्ग के सन्तों के आत्मा हमारे सिर पर हैं। जिनके सम्मिलन में ही श्रद्धा, आशा और आनन्द है। इस झण्डे के नीचे हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसल्मानों और बौद्धों के शास्त्र हैं। जिनमें युग-युगान्तर की शिक्षा और महात्माओं के आदेश हैं जो हमको प्रकाश और उपदेश देते हैं। इस झण्डे की छत्र-छाया में चार शास्त्र सम्मिलित हैं। यहाँ एशिया, यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका का अन्तर्जातीय भ्रातृत्व विद्यमान है।"

क्रमशः

शंका-समाधान

शंका

दिनमान् दिखाना याने मेरी आजकल ग्रह दशा कैसी है पतड़े वालों से दिखाया करते हैं। क्या यह वेदोक्त हैं? इसका उत्तर देने की कृपा करें। —पूसराज शर्म्मा

समाधान

नहीं। यह केवल गपोड़ा है और भोले भालों को ठगने के लिये हैं। इसने संसार को बहुत दुख दिया है और शीघ्र ही इसको रोक देना चाहिये। यह झूठे भ्रम फैलाकर लोगों को कर्तव्य से च्युत कर देता है।

शंका

१—अक्सर लोग पेड़ की जड़ में छोटी छोटी मछलियां डाला करते हैं इसलिये कि पेड़ में कोई रोग न लगने पाये। यह अनुचित है या उचित?

२—जब लड़कियों की शादी होती है तो उस दिन लोग व्रत उपवास रहा करते हैं। यह ठीक है या नहीं?

प्रेषक श्री विश्वनाथ, ईसापुर जौनपुर।

समाधान

१—उचित नहीं। इससे हिंसा होती है!

२—उपवास की कोई आवश्यकता नहीं। यह प्रथा 'कन्यादान' का ठीक अर्थ न समझने के कारण चल पड़ी है।

शंका

१—"ग्रहन" चाँद पूर्णमासी, सूर्य्य अमावस्या को पड़ता है। यह क्या है? क्या होता है, सूतक क्यों लगता है? राहु-केतु क्यों फिरते हैं? बहुत खराब माना जाता है।

२—तारा २॥ महीना का माना है, जिसमें कोई भी काम न करें यह क्यों?

३—पंचक क्या हैं इसमें कोई मर जाता है तो पांच पुतला काष्ठ का बना कर पहिले जलाया जाता है फिर मुरदा का दाग होता है। यह क्या है?

प्रेषक सिरेहमल कानूगो, लाडूनो।

समाधान

१—इसका कारण चन्द्रमा और पृथ्वी का घूमना है। 'सूतक' कोई चीज नहीं। केवल ढकोसला है।

२—"तारों के घूमने" से और "काम न करने से" कोई सम्बन्ध नहीं। यह ढकोसला है!

३—यह भी ढकोसला है। इन बातों को मानना ठीक नहीं!

भारतीय सभ्यता में स्त्री जाति का स्थान

[यह भाषण श्री महात्मा नारायण स्वामी जी ने प्रयाग महिला विद्यापीठ के उपाधि वितरण के समय बसंत पंचमी ता० ११ फर्वरी १९३२ को दिया था।

—सम्पादक]

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपोभवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

यजु० अध्याय ३६ मंत्र १२

प्रारंभ

वृहदारण्यकोपनिषद् में एक जगह कहा गया है कि प्रारंभ पुरुष रूप में आत्मा था। वह अकेला होने से सन्तुष्ट नहीं था। उसने इच्छा की कि उसका एक साथी हो। वह आत्मा विस्तार में इतना था जितना स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर होते हैं। उस (आत्मा) ने अपने को दो भाग करके गिराया इस (विभक्त होने) से वे दोनों भाग पति और पत्नी हुये और इस प्रकार विभक्त होने से वे आधे दाने (दाल) के सदृश हुये[1] उपनिषद् के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गार्हस्थ (पति और पत्नी का संयुक्त) शरीर एक दाने के सदृश था। उसको बराबर बराबर दो दालें होकर पुरुष और स्त्री हुईं, इसलिये स्पष्ट है कि उन दोनों में समात होनी चाहिये। वैदिक साहित्य में जगह जगह इस समता के चिह्न पाये जाते हैं।

वेद और स्त्री जाति

अथर्ववेद ११।५।१८ में कन्याओं को, ब्रह्मचर्य्य का पालन करके, युवा पति के साथ विवाह करने की शिक्षा दी गई है। स्वामी दयानन्द ने अपने पूना के एक व्याख्यान में कहा था कि "स्त्रियां आजीवन ब्रह्मचर्य्य-व्रत धारण करती थीं (सुलभा) और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन

(१) सहैतावानास यथा स्त्री पुमांऽसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानम् द्वेधापातयत्ततः पतिश्चपत्नी चाभवतां तस्माद्दिदमर्द्धबृगलमिव। (वृह० १।४।३)

और गुरु गृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे (उपदेश मंजरी पृष्ठ २०)

अथर्ववेद ३ । २५ । १-६ में स्त्रियों में इन गुणों के होने का विधान किया गया है:—मृदु, विमन्यु (क्रोधरहित), प्रिय वादिनी, अनुव्रता (पति के व्रत में सम्मिलित होने वाली), क्रतौ असः (पति के कार्य्यों में सहायता देने वाली)

अथर्व १ । १४ । १-४ में उन्हें कन्या (कमनीया), कुलपा, ते (पत्युः) भगम् (अर्थात् पति का ऐश्वर्य्य) कहा है।

अथर्व १ । २७ । ४ में स्त्रियों के नेतृत्व का इस प्रकार वर्णन है:—

इन्द्राण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता पुरः ।

अर्थात् जिसे कोई जीत न सके, न कोई लूट सके; ऐसी इन्द्राणी आगे बढ़े। तै० सं० २ । २ । ८ । १ में; "इन्द्राणी वै सेनायै देवता" कहकर इन्द्राणी का अर्थ सेनापत्नी किया गया है। अर्थात् उन्हें युद्ध में सेना के नेतृत्व का भी अधिकार वेद ने दिया है:—

अथर्व ३ । ८ । २ में स्त्रियों को शूर पुत्रों की देने वाली कह कर आवाहन किया गया है—

ऋग्वेद १० । ८५ । ४६ में नवागता बधु को गृह की समाज्ञी कहा गया है।

यजुर्वेद में कन्या को अधिकार ही नहीं दिया गया बल्कि आवश्यक ठहराया गया है कि वह उस युवक से विवाह न करे जो एक से अधिक पत्नी रखने का इच्छुक हो ।

यजुर्वेद १२ । ६२ में उन्हें यह भी अधिकार दिया गया है कि दान धर्म रहित और दूसरे अवगुण रखने वाले युवकों से विवाह न करें ।

यजुर्वेद १२ । ९२ में स्त्री को "निर्ऋते" (सत्याचरण करने वाली) कह कर, विधान किया गया है कि 'यम'=नियन्ता पुरुष और यम्या= न्याय करने वाली स्त्री के साथ पृथ्वी पर आरूढ़ हो, जिसका भाव यह है कि प्रबन्ध और न्याय दोनों विभागों में उन्हें भाग लेने का आदेश है। अब इस प्रकरण का और अधिक बढ़ाना उचित नहीं है जितना लिखा गया वह यह प्रगट कर देने के लिये पर्याप्त है कि वेद

में जो अधिकार पुरुषों के हैं वे ही सब स्त्रियों को दिये गये हैं और यही कारण है कि प्राचीन काल की स्त्रियों ने इतनी विद्योन्नति की थी। लोपा, मुद्रा आदि अनेक स्त्रियां वेद की ऋषिकायें थीं उन्होंने वेद मन्त्रों के अर्थों का प्रकाश किया और उनकी शिक्षा, स्त्री पुरुष, सभी को दी।

वाल्मीकीय रामायण और स्त्री जाति

लगभग वाल्मीकीय रामायण के रचना काल तक स्त्रियों का मान इसी प्रकार बना रहा—वाल्मीकीय रामायण में जगह जगह इसके प्रमाण मिलते हैं उनमें से कुछ का यहां उल्लेख किया जाता है :—

(१) रामचन्द्र के युवराज होने की खबर सुन कर कौशिल्या ने प्राणायाम् करते हुये ईश्वर का ध्यान किया[1]।

(२) रामचन्द्र जब कौशिल्या के गृह में गये तो उनको हवन करते हुये देखा[2]।

(३) रामचन्द्र के वन जाने पर उनकी मंगल कामना से कौशिल्या ने घृतादि से हवन किया[3]।

(४) जब रामचन्द्र सीता के गृह में वन जाने की अनुमति लेने के लिये आये, तब सीता ने रामचन्द्र के निषेध करने पर भी उनसे कहा कि "यदि आप वन जावेंगे तो मैं तुम्हारे आगे चल कर रास्ते में जो झाड़ी और कांटे होंगे उन्हें साफ़ करती चलूँगी।"[4] उस (सीता) ने यह भी कहा कि "मुझे माता और पिता ने सब प्रकार की शिक्षा दी है इसलिये आपको 'किन्तु परन्तु' न करके, जो मैं कहती हूँ उसे मानना

---

(१) श्रुत्वा पुष्येण पुत्रस्य यौवराज्याभिषेचनम्। प्राणायामेन पुरुषं ध्याय माना जनार्दनम्। (अयो० ४। ३३)

(२) प्रविश्य तु तदारामो मातुरन्तः पुरं शुभम्। ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्। (अयो० २०। १६)

(३) हावयामास विधिना राम मंगल कारणात्। घृतं श्वेतानि माल्यानि-समिधःश्वेतवसर्षपान्॥ (अयो० २५। २८)

(४) यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव। अग्रस्ते गमिष्यामि मृदन्ती कुश-कंटकान्। (अयो० २७। ७)

चाहिये।"[१] जब फिर भी रामचन्द्र ने सीता को अपने इरादे को छोड़ने का आग्रह करते हुये अवध ही में रहने की बात कही और कहा कि जब मेरे पीछे भरत तुम्हें नमस्कार करने के लिये आया करें तो उनके सामने तुम मेरी बड़ाई न करना क्योंकि राजा लोग दूसरों की प्रशंसा नहीं सुना करते हैं। तब सीता ने बड़ी तेजस्विता प्रदर्शित करते हुये, रामचन्द्र से कहा कि आप क्यों इस प्रकार की बातें करते हैं जो आप जैसे राजकुमारों को शोभा नहीं देतीं। उसने यह भी कहा कि "यदि मेरे पिता (जनक) यह जानते कि रामचन्द्र पुरुष के रूप में स्त्री ही हैं तो वे तुम्हारे साथ मेरा विवाह कभी नहीं करते।"[२] इससे स्पष्ट है कि समय पड़ने पर स्त्रियां पुरुषों की ताड़ना भी कर सक्ती थीं।

(५) जब शत्रुघ्न मन्थरा को, यह जान कर कि सारी अशान्ति का कारण यही है, बध करने लगे तो भरत ने शत्रुघ्न से कहा कि स्त्रियां अबध्या:[३] हैं इसलिये तुम इसे मुआफ़ कर दो। भरत ने यह भी कहा कि यदि रामचन्द्र सुन लेंगे कि तुमने इस मन्थरा का बध कर दिया है तो याद रक्खो कि वे तुम से और मुझसे बोलना भी पसन्द न करेंगे[४]।

(६) जिस समय लक्ष्मण, रामचन्द्र जी के भेजे हुये पंपापुरी में, इस लिये प्रविष्ट हुये कि सुग्रीव को भर्त्सना करें तो सुग्रीव भयभीत हो कर स्वयं लक्ष्मण के सामने नहीं आया, किन्तु अपनी स्त्री तारा को

(१) अनुशिष्टोस्मिमात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि संप्रति वक्तव्या वर्तितव्यम् यथा मया। (अयो० २७। १०)

(२) किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः। राम! जामातरं प्राप्य स्त्रियम् पुरुषविग्रहम्। (अयो० ३०। ३)

(३) अबध्याः सर्व भूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति।

(अयो० ७८।२१)

(४) इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।

त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यतेध्रुवम्॥

(अयोध्या कांड ७८।२३)

भेजा और कहा कि "तुमको देखकर लक्ष्मण क्रोध न करेंगे क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष स्त्रियों के साथ कठोरता का व्यवहार नहीं करते[1]।

रामायण के उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित होती है कि उस समय तक वेदों की शिक्षानुसार स्त्रियों को सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे और उनका समाज में समुचित मान था। महाभारत काल में इस मान में कमी हुई। द्रौपदी का जो अपमान, भीष्मपितामहादि के होते हुये, भरी सभा में हुआ वह इसका प्रमाण है। दुर्भाग्य से यह कमी उत्तरोत्तर बढ़ती गई और स्वामी शंकराचार्य्य जी के काल में यह अधोगति, पराकाष्टा की सीमा को पहुंच चुकी थी।

स्वामी शंकराचार्य्य और स्त्री जाति

श्रीमद् शंकराचार्य्य के नाम से उनकी लिखी हुई वर्णित एक लघुपुस्तिका, प्रश्नोत्तरी के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ के उत्तर अत्यन्त आपत्ति-जनक हैं। एक प्रश्न है कि "नरक का द्वार कौन है"? उत्तर दिया गया है कि "स्त्री"[2] फिर एक दूसरा प्रश्न है कि "विश्वास पात्र कौन नहीं है"? इसका भी "स्त्री" ही उत्तर दिया गया है[3]। फिर एक प्रश्न है कि "कौन सा वह विष है जो अमृत के समान प्रतीत होता है।" उत्तर में वह विष "स्त्री" ही को बतलाया गया है[4]। इस प्रकार के और ऐसे ही अत्यन्त आपत्ति जनक प्रश्नोतर एक दर्जन से भी अधिक हैं, जो इस पुस्तक में दिये गये हैं। स्त्री जाति के अपमान की यह प्रवृत्ति कम नहीं हुई किन्तु बराबर बढ़ती ही गई। श्री तुलसीदास जी ने भी "ढोल गंवार" वाली चौपाई का ढोल पीट कर इसमें भाग लिया।

(१) त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा न स्म कोपं करिष्यति।
नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम् ॥
(किष्किंधा ३३।३६)

(२) द्वारं किमेकं नरकस्य? स्त्रीम्।

(३) विश्वास पात्र न किमस्ति? नारी।

(४) किं तद्विषं भाति सुधोपमम्? स्त्रीम्।

स्वामी दयानन्द और स्त्री जाति

आर्य्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती का ध्येय केवल वेदों का प्रचार करना था। इसलिये उनके लिये अनिवार्य्य था कि वे स्त्री जाति की मान वृद्धि न करते। उन्होंने उदयपुर में एक ८, ९ वर्ष की बालिका के सामने नत मस्तक होकर देश वासियों को बतला दिया कि वे एक छोटी सी बालिका को भी मातृ-शक्ति के रूप में देखते हैं और चाहते हैं कि देश और जाति में "मातृवत्परदारेषु" की शिक्षा का फिर से मान होने लगे। श्रीयुत रंगा अय्यर M. L. A. ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Father India में उचित रीति से लिखा है कि "In the 19th century Rishi Dayananda Saraswati came as a Massiah to preach the restoration of women to their ancient glory". यह बड़ी प्रसन्नता और सन्तोष की बात है कि स्त्री जाति के सम्बन्ध में अब जाति का दृष्टिकोण बदला हुआ है। अब प्रत्येक माता और पिता अपनी कन्या को सुशिक्षिता देखना चाहता है और प्रत्येक युवक, पढ़ी लिखी कन्या ही से विवाह करने का इच्छुक है। परिवर्तनकाल जाति के लिये बड़ा कठिन काल हुआ करता है। ऐसे समय की कुछ भी भूल विनाशक हो जाया करती है।

स्त्री जाति का परिवर्तन-काल

स्त्री जाति के भी इस परिवर्तनकाल में बड़ी सावधानी अपेक्षित है। कुछेक ध्यान में रखने योग्य सावधानियों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

(१) स्त्री और पुरुष मनुष्य जाति के दो भाग हैं और दोनों की, लोक सम्बन्धी आवश्यकतायें और कर्तव्य भी पृथक पृथक हैं। इसलिये उनकी शिक्षा पद्धति भी पृथक पृथक होनी चाहिये। जो लोग कन्याओं को शिक्षा दिलाने के उत्साह में, उन्हें वही शिक्षा जो पुत्रों को दी जाती है, दिलाने लगते हैं, बड़ी भूल करते हैं। सच तो यह है कि प्रचलित शिक्षापद्धति में देश की परस्थिति और जाति की आवश्यकताओं पर दृष्टि डालकर मौलिक परिवर्तन करने की जरूरत है तब वह पुत्रों के लिये भी उपयोगी बन सकती है और पुत्रियों के लिये तो उसे एक दम बदल देना पड़ेगा। मुझे प्रसन्नता है कि प्रयाग महिला विद्यापीठ ने इस पाठविधि के विभिन्नता

के सिद्धान्त को अपना रक्खा है और अनेक समझदार आदमी इसी प्रकार का मत रखने लगे हैं।

(२) दूसरी बात "सम्मिलित शिक्षा" (Co-education) है। प्राचीन काल से इस देश में यही सिद्धान्त बराबर माना और काम में लाया जाता रहा है कि बालक और बालिकाओं की शिक्षा पृथक पृथक होनी चाहिये। पश्चिमी देशों की नक़ल करके इस देश में कई जगह कन्या और पुत्रों को आश्रमों में इकट्ठा रक्खा गया और उन्हें एक ही शिक्षणालय में एक ही पाठ-विधि से शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। मुझे जहां तक मालूम हो सका है, प्रत्येक जगह इस परीक्षण में असफलता हुई। इसलिये इस सम्बन्ध में भी यही नियम प्रतिष्ठित रहना चाहिये कि दोनों बालक और बालिकाओं की शिक्षा पृथक पृथक होनी चाहिये। कुछ समय बीता जब अमरीका की एक शिक्षा सम्बन्धी रिपोर्ट में यह शिकायत की गई थी कि अधिकतर स्त्री अध्यापिकाओं से शिक्षा पाकर और उनकी अनेक बातों का अनुकरण करने से लड़के Womanised हो रहे हैं।

(३) तीसरी बात यह है कि इस समय शिक्षा पाने वाली कन्याओं में, शारीरिकोन्नति की ओर से उदासीनता आ रही है। इस कुटेव का फल यह है कि अनेक स्त्रियां पहले ही प्रसव-काल में मौत के गाल में समा जाती हैं। पुराना तरीक़ा, गृह सम्बन्धी सभी काम स्वयं करने का बहुत अच्छा था, परन्तु उन्हें तो अब पढ़ी लिखी स्त्रियां छोड़ रही हैं और उसके स्थान पर, और ही कोई व्यायाम करतीं, ऐसा भी प्रायः नहीं देखा जाता। इसलिये आवश्यक है कि कन्याओं को, विवाह से पहले और विवाह के बाद भी, किसी न किसी प्रकार का व्यायाम, चाहे वह गृह-कार्य्य के रूप में हो चाहे और किसी प्रकार का, अवश्य मेव करना चाहिये। माता का सब से बड़ा काम जैसा कि इटली के भाग्य-विधाता मसोलनी ने भी कुछ समय बीता कहा था—"बलवान पुत्र और बलवती पुत्रियों का पैदा करना है।" यदि माता स्वयं निर्बला है तो वह किस प्रकार बलवती सन्तान पैदा कर सकती है? एक बार मुझे भ्रमण करते हुए, एक ग्राम के निकट, एक जङ्गली जाति (हाबूड़ा) की एक माता को बच्चा जनते हुये. देखने का अनायास अवसर मिल गया। मुझे

एक बड़े घने वृक्ष की छाया में, सड़क के किनारे, ग्रीष्म ऋतु की दुपहरी में एक दिन विश्राम करने के लिये बाधित होना पड़ा। उसी समय (हाबूडा) जाति का एक जत्था वहां आया और उसी वृक्ष की छाया में, वह भी ठहर गया। वहीं आते ही, उस जत्थे के साथ वाली एक माता के बच्चा पैदा हुआ। नाम मात्र की सहायता एक दूसरी स्त्री ने दी थी अन्यथा सारे काम स्वयं उसी बच्चा पैदा करने वाली माता ने कर लिये। थोड़ी देर के बाद वह माता उस बच्चे को एक टोकरे में लिटा कर और उस टोकरे को अपने सिर पर रख कर चल दी। कठिनता से इस सब काम में २ घण्टे लगे होंगे। परन्तु पढ़ी लिखी मातायें २ घण्टे नहीं किन्तु २ सप्ताह में मुश्किल से काम करने के योग्य होती हैं। यह अन्तर, शारीरिक परिश्रम से उदासीनता ही का फल है।

(४) शारीरिकोन्नति के लिये यह भी अत्यन्त आवश्यक है, कि कन्याओं के विवाह की आयु, सोलह वर्ष से किसी हालत में भी कम न हो—अल्पायु में विवाह होने का यही दुष्परिणाम नहीं होता कि स्त्रियां और उनकी सन्तान निर्बल होती हैं बल्कि इसका इससे भी अधिक भयंकर परिणाम, बाल-विधवाओं की संख्या-वृद्धि है। नीचे की सारिणी से इसका कुछ अनुमान हो सकता है:—

आयु वर्ष	विवाहिता स्त्रियों की संख्या	विधवा		योग (अन्य मतों की विधवाओं की संख्या सहित
		हिन्दू	मुसलमान	
०—१	१३२१२	८६६	१०९	१०१४
१—२	१७७५३	७५५	६४	८५६
२—३	४९७८७	१५६४	१६६	१८०७
३—४	१३५१०५	३९८७	५८०९	८२७३
४—५	३०२४२५	७६०३	१२८१	१७७०३
५—१०	२२१९७७८	७७५८५	१४२७६	९४२४०
१०—१५	१००८७०२४	१८१५०७	३६२६४	२२३०३२
योग	१२८२४०८४	२७३८६७	५७९६९	३४५९२५

उपर्युक्त सारिणी से बाल विधवाओं की संख्या प्रकट होती है। भला जिस देश में, एक एक दो दो वर्ष की आयु वाली कन्यायें एक दो नहीं अपितु हजारों की संख्या में विधवा हों क्या उस देश के पुरुष और

नोट—ये अङ्क १९११ ई० की जन-संख्या के चित्रों से लिये गये हैं।

स्त्रियों को भी पढ़ा लिखा कहा जा सकता है ? इन दुर्भाग्य वाली विधवाओं के कष्टों की कहानी बड़ी लम्बी है। अवकाश नहीं कि उसे यहां सुनाया जावे परन्तु इतना तो कह ही देना चाहिये कि अपने को बड़ा दयालु कहने वाले हिन्दू इन (विधवाओं) पर दया नहीं करते। यदि बाल-विधवाओं की भोली और निर्दोष आंखों से बहते हुये आंसुओं को देख कर तुम्हें दया नहीं आती तो तुम कैसे दयालु हो ?

अस्तु ! यदि सोलह वर्ष से कम आयु वाली कन्याओं का विवाह न होता तो यह साढ़े तीन लाख के लगभग विधवायें तो देश में न होतीं। मुझे प्रसन्नता है कि इन विधवाओं पर तरस खाकर दीवान बहादुर श्री हरविलास शारदा ने एसेम्बली में एक बिल पेश किया है, जिससे विधवाओं का भी कुछ स्वत्व दायभाग में ठहराया गया है। विधवायें सहायता पाने की अधिकारिणी हैं इसलिये उनकी जिस प्रकार से भी संभव हो, सहायता करनी चाहिये।

समालोचना

धम्मपद —श्रीमान् पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० कृत हिन्दी अनुवाद सहित। प्रकाशक कला प्रेस प्रयाग। पृष्ठ संख्या १६० मूल्य १) सजिल्द १॥)

महात्मा बुद्ध के हृदय में विश्वप्रेम का भाव भरा हुआ था। बुद्धत्व (यथार्थ ज्ञान) प्राप्त कर लेने के बाद वह जो कुछ उपदेश देते और कार्य करते थे वह सब शुद्ध, सात्विक, निस्वार्थ प्रेम के भाव से प्रेरित होकर। कुछ लोग उन्हें नास्तिक समझते हैं परन्तु ऐसे "विश्वप्रेमी-नास्तिक" उन आस्तिकों से करोड़ गुना श्रेष्ठ हैं जो आस्तिकता के परदे में झूठ बोलते और धोखा देते हैं अथवा गाड और खुदा के नाम पर अन्ध-श्रद्धा अन्ध-विश्वास और कदाचार फैलाते हैं तथा आडम्बर रचते, अन्याय और अत्याचार करते हैं। इस प्रसिद्ध पुस्तक में महात्मा बुद्ध के उन सदुपदेशों का सुन्दर मनोहर संग्रह है जिनको ग्रहण करके उनके जीवनकाल में ही करोड़ों मनुष्यों का चरित सुधर गया था। और उनके बाद तो बहुत से देशों में बौद्ध मत फैल गया।

हमारे पौराणिक भाइयों में जिस प्रकार गीता की प्रतिष्ठा है उसी प्रकार बौद्धों में धम्मपद का सम्मान है। इसे बौद्धों की गीता कहना सर्वथा उचित है। अस्तु, मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त-कर्त्ता तथा आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम्० ए० ने धम्मपद का हिन्दी अनुवाद किया है। आरंम्भ में ३८ पृष्ठ की सुन्दर भूमिका है। भूमिका विद्वत्तापूर्ण और मनोहारिणी है, पढ़ने पर बिना समाप्त किये छोड़ने को जी नहीं चाहता। भूमिका में सम्पूर्ण पुस्तक का सारांश भी लिख दिया है। पुस्तक में कुल २६ अध्याय हैं। एक अध्याय में तो महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट ही कहा है कि जाति से ब्राह्मण नहीं किन्तु सत्यता, दया क्षमा, शान्ति, संयम, विद्वत्ता, अहिंसा, सदाचार परोपकार आदि गुणों से ब्राह्मण कहता व मानता हूं।

धम्मपद के सब छन्द प्राकृत भाषा के हैं जो कि मोटे अक्षरों में छपे हैं। इसके बाद हिन्दी अनुवाद छपा है। अनुवाद बहुत ही सुन्दर, सरल और सरस है। कागज छपाई सब उत्तम है।

महात्मा बुद्ध के उपदेश इतने मधुर, मनोहर हैं कि किसी भी मतवादी को अप्रिय नहीं लग सकते। उनके उपदेशों से प्रत्येक मत के लोग लाभ उठा सकते हैं। हमें आशा है कि हमारे आर्यसामाजिक और पौराणिक दोनों भाई इस ग्रन्थ-रत्न को पढ़कर लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। —कृष्णानन्द

शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य]

काण्ड १—अध्याय २—ब्राह्मण ४

(१)

अनुवाद

१६—अथ तृतीयं प्रहरति। द्रप्सस्ते द्यां मा स्कान्नित्ययं वाऽअस्यै द्रप्सो यमस्या इमंꣳ रसं प्रजा उपजीवन्त्येष ते दिवं मा पप्तादित्येवैतदाह व्रजं गच्छ गो०—मौगिति।

१९-अब वह तीसरी बार प्रहार करता है नीचे का मंत्रांश पढ़कर:—

द्रप्सस्ते द्यां मास्कन्।

(यजु० १। २६)

"तेरा रस आकाश में सूख न जाये"।

पृथ्वी का वही रस है जिसके द्वारा प्रजाओं का जीवन चलता है। इस प्रकार वह कहता है कि "द्यौलोक को न जा"। अब वह कहता है:—

"व्रज को जा.........मत छोड़"। (देखो १७ वीं० ब्रा० का अन्त)।

२०—स वै त्रियजुषा हरति। त्रयो वाऽइमे लोका एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधात्य-द्धावै तद्यदिमेलोका अद्धो तद्यजुस्तस्मात्त्रियजुषा हरति।

२०—वह तीन यजुओं का जाप करके फेंकता है। यह तीन ही लोक है। इसको इन तीन लोकों द्वारा दबाता है। जो यह तीन लोक हैं वही यजु हैं। इस लिये तीन यजुओं से फेंकता है।

२१—तूष्णीं चतुर्थम्। स यदिमांल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा तेनैवैतद्द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधतेऽनद्धा वै तद्यदिमां ल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वानद्धो तद्यन्तूष्णीं तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम्।

२१—चौथी बार मौन साधकर (बिना मंत्र पढ़े) फेंकता है—इन तीन लोकों के पार कोई चौथा लोक हो या न हो उससे भी इस दुष्ट शत्रु को भगा देता है। यह भी अनिश्चित है कि चौथा लोक हो या न हो और जो कुछ चुपचाप (बिना मंत्र के) किया जाय वह भी अनिश्चित है इस लिये चौथी बार चुपचाप फेंकता है।

[२]

यज्ञ सम्बन्धी सारांश

यजुर्वेद पहले अध्याय के २४, २५, तथा २६ मंत्रों को जप करके स्फ्या द्वारा भूमि खोदने और मिट्टी फेंकने का विधान है।

[३]

उपदेश तथा भाषा सम्बन्धी टिप्पणियां

(१) तस्माच्छरो नाम यद् शीर्यत।

(१।२।४।१)

चूंकि टूट गया, इसलिये (तीर का) नाम शर पड़ा' ('शृ' धातु का अर्थ हैं तोड़ना)

(२) इन्द्र के टूटे हुये वज्र के चार टुकड़े हुये (१) यूप (२)स्फ्य (३) रथ (४) शर। पहले दो से ब्राह्मण यज्ञ करते हैं। दूसरे दो से क्षत्रिय रक्षा करते हैं।

(१।२।४।२)

अध्वरो वै यज्ञः।

(१।२।४।५)

(३) 'अध्वर' नाम है यज्ञ का। अथवा यज्ञ हिंसा रहित होता है।

(४) देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्या। (१।२।४।८)

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं।

शतपथ ब्राह्मण (सभाष्य)

काण्ड १—अध्याय २—ब्राह्मण ५

[१]

अनुवाद

१—देवाश्च वाऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासुरथ हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति ।

१—देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान बड़ाई के लिये झगड़ा करते थे । तब देव पराजित हो गये । असुरों ने सोचा कि हमारा ही यह सब जगत् है ।

२—त होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः ।

२—तब उन्होंने कहा—"आओ, इस पृथ्वी को बांट लें और इसको बांट कर इस पर रहें । अब इसको बैल के चमड़ों द्वारा पश्चिम से पूर्व तक बांटा ।

३—तद्वै देवाः शुश्रुवुः । विभजन्ते ह वाऽइमामसुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः ।

३—तब देवों ने इस बात को सुना । असुर इस पृथ्वी को बांट रहे हैं । चलो वहां चलें जहाँ यह असुर बांट रहे हैं । क्योंकि यदि असुर पृथ्वी को आपस में बांट लेंगे तो हम कहां रहेंगे । तब वह यज्ञ को विष्णु के रूप आगे करके पहुंचे ।

४—ते होचुः । अनु नोऽस्यां पृथिव्यामा भजता स्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त—इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वोदद्म इति ।

४—तब उन्होंने कहा, "इस पृथ्वी में हमारा भी बांट करो । हमको भी इसमें कुछ भाग दो ।" असुरों ने इस पर डाह किया और कहा, "हम केवल इतना देंगे जितने पर यह विष्णु सो सके ।"

५—वामनो ह विष्णुरास । तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नोयज्ञसम्मितमदुरिति ।

५—विष्णु बौना था । परन्तु देवों ने इसका बुरा न माना और कहा, "अगर उन्होंने यज्ञ के बराबर भाग दे दिया तो बहुत दे दिया ।"

६—ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य । छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामितिदक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ।

६—उन्होंने पूर्वाभिमुख विष्णु को लिटाकर सब ओर से छन्दों द्वारा घेर दिया ।

"गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि"।
(यजु० १ । २७)

गायत्र छन्द द्वारा तुझे दक्षिण की ओर घेरता हूँ।

त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि।
(यजु० १ । २७)

त्रैष्टुभ छन्द से तुझे पश्चिम की ओर घेरता हूं।

जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि।
(यजु० १ । २७)

जागत छन्द से तुझे उत्तर की ओर घेरता हूँ।

७—तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य। अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमाꣳ सर्वां पृथिवीꣳ समविन्दन्त तद्यदेनेनेमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमाꣳ सर्वाꣳ समविन्दन्तैवꣳ ह वाऽइमाꣳ सर्वाꣳ सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान्य एवमेतद्वेद।

७—सब ओर से उसको छन्दों द्वारा घेर कर और पूर्व की ओर अग्नि रख कर उसके द्वारा पूजा तथा श्रम करते रहे। इसके द्वारा उन्होंने इस सब पृथ्वी को ले लिया। और चूंकि इसके द्वारा उन्होंने सब पृथ्वी जीत ली इसलिये इसका "वेदि" नाम पड़ा। इसी लिये कहते हैं कि जितनी वेदि है उतनी पृथ्वी इसीके द्वारा सब पृथ्वी को प्राप्त किया। जो पुरुष इस बात को इस प्रकार समझता है वह इस सबको शत्रुओं से छीन लेता है और शत्रुओं को भाग रहित कर देता है।

८—सोऽयं विष्णुर्ग्लानः। छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच।

८—अब यह विष्णु थक गया। परन्तु सब ओर छन्दों से और पूर्व की ओर अग्नि से घिरा होने के कारण भाग न सका। तब औषधियों की जड़ में जा छिपा।

९—ते ह देवा ऊचुः। क्व नु विष्णुरभूत् क्व नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति तं खनन्त—इवान्वीषुस्तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दंस्तस्मात्त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्तदु हापि पाञ्चिस्त्र्यङ्गुलामेव सौम्यस्याध्वरस्य वेदिं चक्रे।

९—तब देव कहने लगे—"विष्णु कहां गया? यज्ञ कहाँ गया"? उन्होंने कहा" सब ओर छन्दों द्वारा और पूर्व की ओर अग्नि द्वारा घिरा होने के कारण भाग तो सकता नहीं। इसलिये यहीं ढूंढो। थोड़ा सा खोद कर उन्होंने ढूंढा। तीन अङ्गुल पर पाया। इस वेदि तीन अंगुल गहरी होनी चाहिये। इसलिये पाञ्चि ऋषि ने सोमयज्ञ की वेदि तीन अंगुल गहरी बनाई।
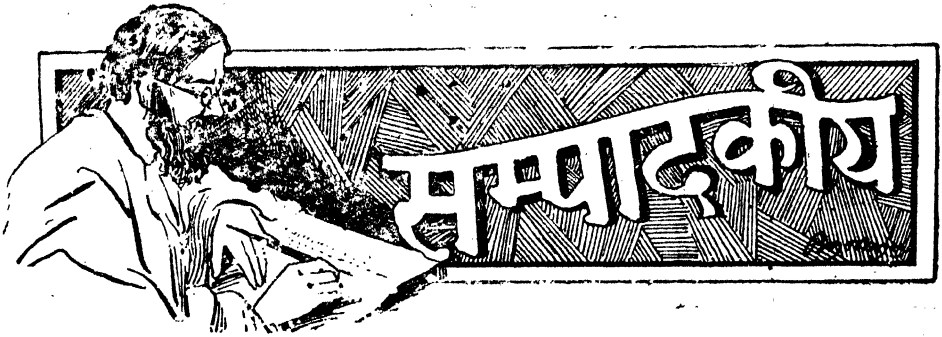
दूसरा वर्ष समाप्त

दूसरे वर्ष का अन्तिम अंक पाठकों की सेवा में पहुँच रहा है। अगले अंक से वेदोदय का तीसरा वर्ष आरम्भ होगा। इस दो वर्ष के काल में वेदोदय को १०००) से अधिक घाटा उठाना पड़ा है। देश में भी परिस्थिति इस समय बड़ी भयंकर हो रही है। पर हम हताश नहीं हैं। पवित्र उद्देश्य तथा पाठकों का प्रेम हमारे साथ है। यदि अगले वर्ष में हमारे ग्राहकों की कृपा रही तो वेदोदय में हमको घाटा न रहेगा। वेदोदय के पाठकों से हमारा निवेदन है कि यदि वे हमारी सहायता करना चाहते हैं, यदि वे समझते हैं कि 'वेदोदय' आर्य्य समाज, तथा वेदों का प्रचार कर रहा है तो कम से कम २ ग्राहक बनाकर अवश्य भेज दें। दो ग्राहकों का बनाना कोई बड़ी बात नहीं; अपने मित्रों को वेदोदय दिखाइये। यदि किन्हीं कारणों से आप स्वयं प्रार्थना न कर सकें तो हमको पता लिख भेजिये। हमारे कई प्रेमियों ने बहुत से ग्राहक बनाये हैं। विशेष रूप से पं० शिवचरणलाल जी, आर्य्य पुरोहित कालपी का नाम उल्लेखनीय है।

लेखक महोदयों के भी हम बहुत कृतज्ञ हैं। यदि उनकी अमूल्य सहायता न मिली होती तो हम वेदोदय को इतना सुन्दर न निकाल पाते। हमें आशा है कि भविष्य में भी हमारे लेखक तथा पाठकों की ऐसी ही कृपा रहेगी।

मालवीय जयंती

गत ११ फर्वरी १९३२ को बसन्त पंचमी के दिवस पूज्य मालवीय जी की ७०वीं० वर्ष गांठ काशी में बड़ी धूमधाम के साथ मनाई गई। देश के सभी प्रमुख नेताओं की ओर से बधाइयां आई तथा अनेकों संस्थाओं की ओर से अभिनन्दन पत्र पढ़े गये। उन सबका उत्तर मालवीय जी ने बड़े मार्मिक शब्दों में दिया। आपने कहा—"यदि मेरे किसी अनुचित कर्म से हमारी पवित्र और प्रिय जन्मभूमि को लज्जा से मस्तक अवनत करना पड़ेगा,

तो मैं चाहूँगा कि उसी क्षण मुझे मृत्यु प्राप्त हो।"

पं० मदनमोहन मालवीय ने वह काम किया है जो सर सय्यद अहमद खां ने मुसल्मान जाति के लिये किया था। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि मालवीय जी का कार्य्य सर सय्यद अहमद के कार्य्य से कहीं अधिक है। हिन्दू विश्व विद्यालय एक ऐसी संस्था है जिस पर समस्त हिन्दू जाति तथा भारतवर्ष को गर्व हो सकता है। मालवीय जी ने स्वर्गीय श्री स्वामी श्रद्धानन्द के साथ शुद्धि तथा अछूतोद्धार का कार्य्य किया था। अब भी हिन्दू जाति के कार्य्य में हम उनको पीछे नहीं पाते हैं। ऐसा निस्वार्थ सेवी नेता हमारे बीच में बहुत दिनों रहे यही हमारी मंगल कामना है।

हमारी ईश्वर से पुनः प्रार्थना है कि मालवीय जी को चिरायु करे।

कानपुर के दो प्रमुख व्यक्ति

लगभग तीन मास में ही कानपुर के दो प्रमुख आर्य्यसमाज के कार्य्य कर्त्ता इस पृथ्वी से उठ गये। श्री रायबहादुर बा० आनन्द स्वरूप जी की मृत्यु से लोग दुःखित ही थे कि मुन्शी ज्वालाप्रसाद जी की मृत्यु का समाचार मिला। इन दोनों व्यक्तियों की सेवायें बड़ी अमूल्य हैं और उन सेवाओं का विस्तृत वर्णन "आर्य्यसमाज के निर्माता" शीर्षक में निकलेगा। यहाँ पर संकेत रूप से इतना ही लिखा जा सकता है कि कानपुर का सुन्दर आर्य्यसमाज मंदिर जिसमें १ लाख रुपया लगा है, डी० ए० वी० हाई स्कूल कानपुर तथा डी० ए० वी० कालिज कानपुर की स्थापना इन दोनों के ही उद्योग से हुई थी। इन दोनों के लगातार परिश्रम से डी० ए० वी० कालिज स्थापित हो सका। मुन्शी ज्वालाप्रसाद जी उत्तम कवि तथा लेखक थे। "आर्य्यावर्त्त" नामक उर्दू का साप्ताहिक पत्र उनके सम्पादकत्व में बहुत दिनों तक निकला। यह दोनों आत्मायें २५-३० वर्ष से लगातार साथ साथ काम करती रहीं और आकस्मिक रूप से इस लोक से भी वे एक साथ ही उठ गई। संयुक्त प्रान्त को उनकी मृत्यु से जो क्षति पहुँची वह अकथनीय है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनकी आत्मा को सद्गति दे।
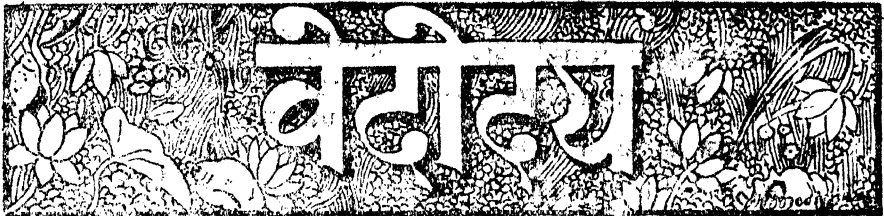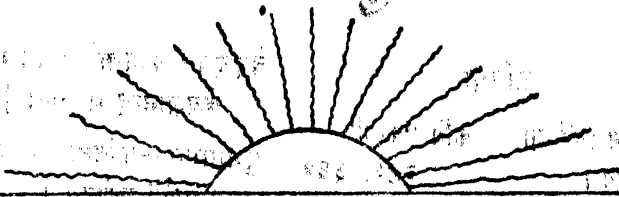
(भाग ३, ४)

[चैत्र १९८८ से फाल्गुन १९८८ तक]

—:o:—

सम्पादक

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

श्री विश्वप्रकाश बी० ए०, एल०-एल० बी०

———

प्रचारार्थ वार्षिक मूल्य २)

अनुक्रमणिका

कविता

लेख

Reg. No. 2041.

बालोपयोगी सचित्र मासिक पत्र

वार्षिक मूल्य २॥) एक प्रति का ।)

मैनेजर—कला प्रेस, प्रयाग ।

Printed & Published by Ganga Prasad [Editor] at the Kala Press, Zero Road, Allahabad.